लग जाती है। मेरे तो ओठ कट जाते हैं। मेरे तो शरीर और कपड़े धूल से भर जाते हैं। मैं तो अब चला ही नहीं करूंगा। मैं तो अब मां की गोद में या पालने में ही रहा करूंगा। अथवा बच्चे की मां ही सोचने लगे कि मेरा लाल तो चलना सीखने के समय गिर पड़ता है, उसे चोट लग जाती है, उस का शरीर और कपड़े मैले हो जाते हैं, मैं तो अपने लाल को अपनी गोद ही में रखूंगी, उसे पालने पर ही झुलाऊंगी, तो वह बच्चा कभी भी चलना नहीं सीख सकेगा। बच्चा गिर-पड़ कर भी चलने का अभ्यास करता रहता है और उस की मां भी उसे चलने का अभ्यास करने से रोकती नहीं, प्रत्युत उसका उत्साह बढ़ाती रहती है। अभ्यास करते-करते बच्चे को चलना आ जाता है। अब वह बिना गिरे चलने लगता है। चलने ही नहीं लगता, बिना गिरे दौड़ने लगता है। और नट का बच्चा तो पैरों में सींग बांध कर, ऊंचे बांसों पर बंधी हुई पतली रस्सी पर उन सींगों की नोक से, बिना गिरे, चलने और दौड़ने का अभ्यास भी कर लेता है। यह है अभ्यास की महिमा।

धर्म के मार्ग पर चलने की शक्ति भी इसी प्रकार अभ्यास करते-करते पैदा होती है। दुर्बलता के कारण धर्म के मार्ग से विचलित होते रहने से घबराइये नहीं। धर्म-मार्ग पर चलने का अपना निश्चय दृढ़ रखिये। उस निश्चय में ढील मत आने दीजिये। धर्म पर चलते रहने का अभ्यास निरन्तर करते रहिये। आप देखेंगे कि कुछ काल के पश्चात् आपके जीवन में धर्म के सत्य आदि अंग दृढ़ता के साथ जमते जा रहे हैं। साल-छः महीने के इस प्रकार के दृढ़ अभ्यास के पश्चात् जब आप अपने उस समय के जीवन का अपने साल-छः महीने पूर्व के जीवन के साथ मिलान कर के देखेंगे तो आपको स्वयं आश्चर्य होगा कि आप धर्म के मार्ग पर कितना आगे बढ़ गये हैं! कहां थे और कहां आ गये हैं!

चरित्र की दैनिक पड़ताल

चरित्र को उन्नत करने के सम्बन्ध में हमारे ऋषियों ने हिदायत दी है कि "मनुष्य को प्रति दिन अपने चरित्र की पड़ताल करनी चाहिये। उसे प्रति दिन देखना चाहिये कि उस में पशुओं जैसी बुरी बातें कौन सी हैं और सत्पुरुषों जैसी अच्छी बातें कौनसी हैं। पशुओं की सी बुरी बातों का उसे परित्याग करते रहना चाहिये। और सत्पुरुषों की सी अच्छी बातों को उसे अपने चरित्र में ढालते रहना चाहिये[1]।" ईश्वरोपासना में हम प्रति दिन दोनों

१. प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः। किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्न सत्पुरुषैरिति॥

समय अपने चरित्र की यही जांच-पड़ताल करते हैं। परमात्मा को भी शास्त्रों में पुरुष कहा गया है। वे परम पुरुष हैं। परमात्मा में सब सद्गुणों का निवास है। इसलिये वे परम सत्पुरुष हैं। उपासना में हम इन्हीं परम सत्पुरुष की संगति में बैठते हैं। और अपने चरित्र का इन परम सत्पुरुष के गुणों के साथ मिलान कर के उन के गुणों को अपने भीतर धारण करने का प्रयत्न करते हैं तथा इन सद्गुणों के विरोधी पशुओं के से अपने अवगुणों का परित्याग करते हैं। इस प्रकार उपासना द्वारा निरन्तर उस परम सत्पुरुष की संगति में बैठते-बैठते हम भी उस जैसे ही सत्पुरुष बन जाते हैं। प्रभु में सत्य है। हम भी सत्य के धनी बन जाते हैं। प्रभु में न्याय है। हम भी न्याय पर चलने वाले बन जाते हैं। प्रभु में दया है। हम भी सब प्राणियों पर दया करने वाले––सब का भला करने वाले बन जाते हैं। प्रभु में ज्ञान है। हम भी सब प्रकार के अज्ञान और अन्ध-विश्वासों को त्याग कर भांति-भांति के ज्ञान-विज्ञानों का संग्रह करने वाले बन जाते हैं। प्रभु में बल है। हम भी अपनी सब प्रकार की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दुर्बलता को छोड़ कर अपने शरीर, मन और आत्मा को बलवान् बना लेते हैं। प्रभु में संयम है। हम भी अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाले संयमी बन जाते हैं। प्रभु नियन्ता हैं––स्वयं नियमों में बंधे हैं और संसार को नियमों में चलाते हैं। हम भी नियमों में बंध कर चलने वाले बन जाते हैं। हम जिस क्षेत्र में रह कर कार्य करते हैं वहां के सब नियमों का पालन करने वाले बन जाते हैं। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य के नियमों और कर्तव्यों का पालन करने लगता है, गृहस्थ गृहस्थाश्रम के, वानप्रस्थ वानप्रस्थाश्रम के और संन्यासी संन्यासाश्रम के नियमों और कर्तव्यों का भली-भांति पालन करने लगता है। शिष्य शिष्य के और गुरु गुरु के नियमों और कर्तव्यों का पालन करने लगता है। पत्नी पत्नी के और पति पति के नियमों और कर्तव्यों का पालन करने लगता है। प्रजा-जन प्रजा-जनों के और राज्याधिकारी राज्याधिकारियों के नियमों और कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन करने लगते हैं। इसी प्रकार प्रभु के अन्य गुण भी हमारे अन्दर आ जाते हैं।

केवल उपासना के मार्ग पर, प्रभु की संगति में बैठने के मार्ग पर, दृढता के साथ चलते रहने की आवश्यकता है। अपने को ऊंचा और धार्मिक बनाने के इस प्रयत्न में प्राप्त होने वाली सफलता की गति के धीमेपन से हमें घबराना नहीं चाहिये। धर्म के मार्ग में हमारी थोड़ी-सी भी सफलता हमारा भला ही करती है। गीता में भगवान् कृष्णचन्द्र जी महाराज ने कहा

है—"थोड़ा-सा धर्म भी बड़े भारी भय से रक्षा करता है[1] ।"

६

उपासना के पांच लाभ

जैसा हम ऊपर कह आये हैं ईश्वर में विश्वास रखना धर्म का आवश्यक अंग है । ईश्वर में विश्वास रखना हमारे जीवन में परिवर्तन ला देता है । ईश्वर-विश्वास हमें सच्चे अर्थों में धार्मिक बना देता है और उस से हमें जीवन में अनेक लाभ प्राप्त होते हैं । ईश्वर-विश्वास से मिलने वाले ये लाभ हमें ईश्वरोपासना द्वारा प्राप्त होते हैं । परन्तु वह उपासना, जैसा ऊपर भली-भांति स्पष्ट कर दिया गया है, परमात्मा को रिश्वत चढ़ाने की नीयत से—सौदे और व्यापार की मनोवृत्ति से—नहीं की जानी चाहिये । ऐसी उपासना निरा ढोंग और पाखण्ड है । उस से कुछ भी लाभ नहीं मिलता । परमात्मा के दरबार में ऐसी उपासना-प्रार्थना स्वीकार नहीं होती । उपासना तो जैसा ऊपर बताया गया है, प्रभु की संगति में बैठ कर प्रेम में भर कर उस के गुणों का चिन्तन करने द्वारा अपने चरित्र को ऊंचा उठाने की नीयत से की जानी चाहिये । इस मनोवृत्ति से की जाने वाली ईश्वरोपासना किस प्रकार लाभ पहुंचाती है इसे ऊपर के पृष्ठों में अच्छी तरह खोल दिया गया है । इस प्रकार ईश्वर की भक्ति करने से हमें निम्न पांच लाभ प्राप्त होंगे—

१. प्रति दिन प्रातः-सायं दोनों समय घण्टा-आधा घण्टा, जितनी देर तक हम चाहें, इस प्रकार प्रेम में भर कर प्रभु की भक्ति करने से हमारे में पैदा हुई यह प्रभु के प्रति प्रेम की वृत्ति उतने समय के लिये हमें संसार की चिन्ताओं और कष्ट-क्लेशों से दूर कर के आनन्द की हालत में डाल देती है । उतनी देर के लिये हम आनन्दमय मस्ती और प्रसन्नता की अवस्था में रहते हैं । उतनी देर के लिये हम सुख ही सुख में रहते हैं और दुःख हमारे पास नहीं फटकते । भक्ति द्वारा हम दोनों समय अपनी इच्छा से जितने समय के लिये चाहें उतने समय के लिये अपने लिये आनन्द की अवस्था पैदा कर लेते हैं । यह भक्ति का भारी लाभ है । जब हम भक्ति से उठते हैं तो हमारे मन और शरीर में निराला उत्साह, फुर्तीलापन और चैतन्य होता है । जिस के फल-स्वरूप अपने दैनिक कार्यों में हमारा चित्त खूब लगता है । यह सब उपासकों का अनुभव है ।

२. भक्ति के समय प्रेम में भर कर प्रभु के गुणों का चिन्तन करने से हमारे अन्दर प्रभु जैसा बनने की इच्छा जाग उठती है । हम प्रभु के सत्य, न्याय,

---

१. स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् । गीता २. ४० ।

ज्ञान, बल, नियमपरायणता और दया आदि गुणों को अपने भीतर धारण करने लगते हैं। इनके विरोधी अपने असत्य, अन्याय आदि दुर्गुणों को छोड़ने लगते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे हम प्रभु जैसे पुण्य-पवित्र बन जाते हैं। इस पवित्रता का फल यह होता है कि भविष्य में हम से बुरे कर्म होने बन्द हो जाते हैं। इसी लिये हमें भविष्य में पाप-कर्मों का फल दुःख भी नहीं मिलेगा। यह स्मरण रहे कि भक्ति से पाप कटते हैं अर्थात् भविष्य में हम पवित्र रहेंगे, पाप नहीं करेंगे। परन्तु पहले किये जा चुके पाप-कर्मों का फल दुःख भक्ति से नहीं कटता है। वह तो भोगना ही पड़ता है।

हम भक्ति के समय अपने मन-द्वारा प्रभु के गुणों का चिन्तन कर के मानसिक रूप में उन के पास जा बैठते हैं। हम एक ऐसी सत्ता को अनुभव करने लगते हैं जो हमारे बाहर-भीतर सब ओर है और जिस में सत्य, न्याय, ज्ञान, बल, संयम, नियमपरायणता और दयालुता आदि गुण इतनी पूर्ण मात्रा में हैं कि उन की पराकाष्ठा हो गई है, हद हो गई है। इस परम पवित्र प्रभु की प्रेम-पूर्वक की हुई संगति हमें भी पवित्र बना देती है। संसार में और कोई संगति इतनी पवित्र नहीं है। इस लिये हमें प्रभु की उपासना करनी चाहिये। इस उपासना का फल यह होता है कि हम प्रभु के गुण धारण कर के पवित्र बन जाते हैं और इसी लिये भविष्य के लिये हमारे पाप से पैदा होने वाले दुःख भी कट जाते हैं।

३. भक्ति का तीसरा लाभ यह होता है कि हमारा संसार अधिक अच्छी तरह चलता है। जो लोग प्रभु की भक्ति में बैठ कर प्रभु के सत्य, न्याय, दया, ज्ञान, बल, और नियमपरायणतादि गुणों को अपने भीतर धारण कर लेगें उन के सभी प्रकार के सांसारिक व्यवहार बहुत सुन्दर रीति से चलेंगे। उन के राज्य-प्रबन्ध अधिक बढ़िया हो जायेंगे। उन के व्यापार अधिक अच्छी तरह चलेंगे। उन के विद्यालय और विश्वविद्यालय अधिक उन्नति करेंगे। एक शब्द में, उन के सभी व्यवहार उत्तम रीति से चलेंगे। क्योंकि सब व्यवहारों का उत्तम रीति से चलना सत्य, न्याय आदि गुणों पर ही आश्रित है।

४. चौथा लाभ भक्ति का यह होता है कि जो लोग इस प्रकार प्रभु की संगति में बैठ कर उन के गुणों को धारण कर के अपने आप को पवित्र बना लेते हैं उन के निर्मल आत्माओं में प्रभु ज्ञान, बल और आनन्द आदि गुण संक्रान्त कर देते हैं। उन की बुद्धि पैनी हो जाती है। वे मानसिक और

शारीरिक रूप में पूर्वापेक्षया बहुत अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं और हरेक अवस्था में आनन्द-प्रसन्न रहते हैं। जैसे चुम्बक के पास पड़े हुए कच्चे लोहे में चुम्बक के गुण संक्रान्त हो जाते हैं उसी प्रकार प्रभु-भक्ति द्वारा पवित्र बन गये व्यक्ति में प्रभु के ज्ञान, बल और आनन्द आदि गुण संक्रान्त हो जाते हैं। और ये गुण प्राप्त कर के ऐसे लोगों का अपना जीवन भी दूसरे लोगों के लिये चुम्बकीय बन जाता है।

५. भक्ति का पाँचवाँ लाभ यह होता है कि इस प्रकार प्रभु-भक्ति द्वारा पूर्ण पवित्र बना हुआ व्यक्ति जब इस शरीर को छोड़ता है तो वह इस पवित्रता के फलस्वरूप सीधा मुक्तावस्था में चला जाता है। उस अवस्था में वह प्रकृति के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो कर प्रभु का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। भगवान् आनन्दमय हैं, वेद के शब्दों में "रस से तृप्त हैं[1]"। मुक्तावस्था के साक्षात्कार में भगवान् का यह आनन्द—यह अमृत—मुक्तात्मा में बहुत अधिक मात्रा में संक्रान्त हो जाता है। मुक्तात्मा एक बहुत लम्बे समय के लिये इस आनन्द का—इस अमृत का—उपभोग करता रहता है।

प्रभु-साक्षात्कार से जो आनन्द प्राप्त होता है वह इतना अधिक होता है कि उस का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। उपनिषदों के ऋषियों ने कहा है कि "वह आनन्द तो अन्तःकरण से अनुभव करने की वस्तु है, उस का वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता[2]।" सभी अनुभूतियों के साथ यह बात लगती है। नमक और खाण्ड का स्वाद कैसा होता है यह उन्हें चख कर अनुभव से ही जाना जा सकता है। जिस ने नमक और खाण्ड कभी चखे नहीं हैं उसे शब्दों द्वारा इन का स्वाद कैसा होता है यह नहीं समझाया जा सकता। उसे नमक और खाण्ड खिला कर ही उन का स्वाद अनुभव कराया जा सकता है। यही बात भगवान् के साक्षात्कार से मिलने वाले आनन्द के सम्बन्ध में है। फिर भी उस आनन्द का हलका सा अनुमान कराने के लिये उपनिषदों के ऋषियों ने कहा है—"एक पुरुष पूर्ण युवा हो, पूर्ण स्वस्थ हो, पूर्ण विद्यावान् हो, सुन्दर हो, उस की पत्नी भी ऐसी ही हो, और वह सारी धरती का चक्रवर्ती सम्राट् हो जिस का कोई भी शत्रु न हो, ऐसे पुरुष के मन में जो प्रसन्नता और सुख होगा उसे एक पुरुष-सुख समझना चाहिये। ऐसे-ऐसे सौ पुरुष-सुखों को

---

१. रसेन तृप्तः। अथर्व० १०. ८. ४४।

२. समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥ मैत्रायण्युपनिषद् ४. ९।

एक पितृ-सुख समझना चाहिये। ऐसे सौ पितृ-सुखों को एक देव-सुख समझना चाहिये। और ऐसे सौ देव-सुखों को एक प्रजापति-सुख समझना चाहिये। ऐसे सौ प्रजापति-सुखों से भी अधिक सुख ब्रह्म-साक्षात्कार की अवस्था में पहुंचे हुए ब्रह्मज्ञानी को होता है[1]।" ईश्वरोपासना से हम इस अद्भुत आनन्द को प्राप्त करने के अधिकारी हो जाते हैं। ईश्वर के साक्षात्कार का अद्भुत आनन्द होता है यह सभी साधकों का अनुभव है। ऋषि दयानन्द जब अठारह-अठारह घण्टे की समाधि लगा कर बैठा करते थे तो उस समय के ईश्वर-साक्षात्कार के कारण वे आनन्द-विभोर हो जाते थे। आनन्द से उन का सारा शरीर रोमांचित हो जाया करता था और उन की आंखों से आनन्द के आंसू झरने लगते थे। सभी पहुंचे हुए ईश्वर-भक्तों का ऐसा अनुभव है। ईश्वरोपासना हमें इस आनन्द की ओर ले जाती है।

भक्ति से ये पांच लाभ प्राप्त होते हैं। इस लिए हम सब को भगवान् की भक्ति करनी चाहिये। पर भक्ति से ये पांच लाभ तभी प्राप्त होंगे जब हम उस के द्वारा भगवान् के सत्य, न्याय आदि गुणों को धारण कर के पवित्र बन जायेंगे। क्लेश घटाने की नीयत से सौदे के रूप में की हुई भगवान् की खुशामद-रूप भक्ति से कोई लाभ प्राप्त नहीं होता है। भक्ति की वास्तविक मनोवृत्ति हमारे भीतर पैदा होनी चाहिये। तभी उस से लाभ होता है।

१. बृहदारण्यक-उपनिषद् ४. ३. ३३।

वैदिक धर्म और मांस-भक्षण

१

वैदिक धर्म में मांस-भक्षण निषिद्ध है

मनुष्य को मांस खाना चाहिये या नहीं ? इस विषय में वैदिकधर्म का क्या मन्तव्य है यह मैंने आप के सम्मुख प्रस्तुत करना है। वैदिक धर्म में मांस का भक्षण सर्वथा निषिद्ध है। मांस न खाने के पक्ष में वैदिकधर्मियों के जो हेतु हैं उन्हें संक्षेप से नीचे उपस्थित किया जाता है——

वैदिक धर्म अहिंसा का धर्म है

वैदिक धर्म या आर्य-धर्म में, जिस का आज कल प्रचलित नाम हिन्दु-धर्म है, अहिंसा को सब से बड़ा धर्म माना गया है। वेद में स्थान-स्थान पर उपदेश दिया गया है कि मनुष्यों को आपस में द्वेष नहीं करना चाहिये, परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये। एक स्थान पर वेद में मनुष्यों को उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं——"हे मनुष्यो ! मैं परमेश्वर तुम्हारे लिये हृदय की समानता और मन की समानता तथा इन से पैदा होने वाली परस्पर द्वेष-हीनता की अवस्था करता हूं——अर्थात् मैं चाहता हूं कि तुम परस्पर मिल कर प्रेम-प्रीति-पूर्वक रहो। तुम एक-दूसरे को प्रेम-पूर्वक चाहो जैसे कि नये पैदा हुए अपने बछड़े को गौ चाहा करती है[१]।" केवल मनुष्यों के ही साथ नहीं, हमें प्राणिमात्र के साथ द्वेष-रहित प्रेम की वृत्ति रखनी चाहिये। इस सम्बन्ध में वेद का उपासक अपने भगवान् से हार्दिक प्रार्थना करता है कि "विघ्न और बाधाओं का विदारण करने वाले हे परमात्मन् ! मुझे दृढ़ बनाइये। सब प्राणी मुझे मित्र की आंख से देखा करें। मैं सब प्राणियों को मित्र की आंख से देखा करूं। हम सब एक-दूसरे को मित्र की आंख से देखा करें।" प्रत्येक वैदिकधर्मी प्रति दिन प्रातः और सायं दोनों समय अपनी सन्ध्योपासना में अपने भगवान् को सम्बोधन कर के कहता है——"हे प्रभो ! जो कोई हम से द्वेष करता है उसे हम आप की न्याय-व्यवस्था के शिकञ्जे के

---

१. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या। अथर्व. ३. ३०. १।

इस मन्त्र और जिस सूक्त (अथर्व. ३. ३०.) का यह मन्त्र है उस की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" में देखिये।

२. दृते दृंह मा। मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजुः. ३६. १८।

इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" में देखिये।

अर्पण कर देते हैं[१] ।" इस वाक्य को उपासक सन्ध्या में छः बार दोहराता है। अपनी इस मनोभावना को भगवान् के सम्मुख व्यक्त करते हुए उपासक पूर्ण रूप से अहिंसामयी वृत्ति का परिचय देता है। वह अपने साथ द्वेष करने वाले को स्वयं दण्ड देना नहीं चाहता है। वह उसे परमात्मा के सिपुर्द कर देता है कि वे जैसा चाहें उस के साथ करें। मैं स्वयं तो अपने से द्वेष करने वाले को भी दण्डित नहीं करना चाहूंगा। वेद में स्थान-स्थान पर पशुओं और पक्षियों की रक्षा करने और उन्हें न मारने के उपदेश दिये गये हैं। वेद के इस प्रकार के उपदेशों का स्पष्ट और सीधा अभिप्राय यही है कि हमारा जीवन पूर्ण रूप से अहिंसाशील होना चाहिये––हमें अपने स्वार्थ के लिये किसी को कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिये, हमें प्राणिमात्र के साथ स्नेह, दया और मित्रता का बरताव करना चाहिये और जहां तक हो सके सब प्राणियों का उपकार करना चाहिये।

वेद के इस प्रकार के उपदेशों को ध्यान में रखते हुए हमारे शास्त्रकारों ने भी जीवन में अहिंसा पर बड़ा भारी बल दिया है। आर्यों के सब से बड़े शास्त्रकार महाराज मनु ने अपने धर्मशास्त्र में चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों के लिये अत्यावश्यक धर्म के दस लक्षणों[२] में एक "क्षमा" को भी गिनाया है। अपने अपराधी को दण्ड न दे कर छोड़ देना क्षमा कहलाती है। जब तक हमारे अन्दर अहिंसा की वृत्ति न हो तब तक हम क्षमाशील नहीं बन सकते। क्षमा करने वाले के लिये अहिंसा-शील होना आवश्यक है। उसे अपने क्रोध को जीतना आवश्यक है। इसी लिये मनु महाराज ने धर्म के इन दस लक्षणों में "क्रोध न करना" भी धर्म का एक अंग गिनाया है। दूसरी जगह महाराज मनु कहते हैं––"जो व्यक्ति धर्म का जीवन बिताना चाहता है उसे अहिंसाशील हो कर सब प्राणियों का कल्याण करना चाहिये और सब के साथ मीठी और चिकनी वाणी का प्रयोग करना चाहिये[३]।" "जो व्यक्ति अपने कर्तव्यों का दृढ़ता के साथ पालन करता है, कोमल स्वभाव का रहता है, इन्द्रियों को वश में कर के रखता है, क्रूर आचरणों और क्रूर आचरण वाले लोगों से दूर रहता है, अहिंसक होता है और मन को वश में रखने वाला होता है तथा अपने विद्या, धन आदि का दान करता रहता है वह इन सब व्रतों का

---

१. योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः। अथर्व. ३. २७. १––६।

२. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्। मनु. ६. ९२।

३. अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता। मनु. २. १५९।

पालन कर के अपने लिये स्वर्ग को जीत लेता है[1]।" "इन्द्रियों को वश में कर के, राग और द्वेष का क्षय कर के, प्राणियों के प्रति अहिंसा का व्यवहार कर के, व्यक्ति अमृतपद प्राप्त करने के योग्य हो जाता है[2]।" "अहिंसा के द्वारा, इन्द्रियों को विषयों में आसक्त न होने देने के द्वारा, वैदिक कर्मों के अनुष्ठान द्वारा और उग्र तपश्चरणों द्वारा लोग उस परम पद को सिद्ध कर लेते हैं[3]।" "जो मनुष्य अधार्मिक होता है, जो झूठ का सहारा ले कर धन कमाता है और जो सदा हिंसा में रत रहता है वह सुखी नहीं होता[4]।" इतना ही नहीं। राज-धर्म का उपदेश देते हुए मनु महाराज ने दस काम[5] से उत्पन्न होने वाले दोष और आठ क्रोध[6] से उत्पन्न होने वाले दोष गिनाये हैं, जिन से राजा को और राज-कर्मचारियों को सदा बच कर रहना चाहिये। वहां काम से पैदा होने वाले दस दोषों में एक दोष मृगया अर्थात् पशु-पक्षियों का शिकार खेलना भी गिनाया गया है। और मृगया को कामज दस दोषों में से प्रधान चार[7] दोषों में सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार मनु महाराज ने अन्य वर्णों के लिये तो अहिंसा का विधान किया ही है, राजा और क्षत्रियों तक के लिये भी पशु-पक्षियों का शिकार खेलना मना किया है और शिकार खेलने को बड़ा भारी दोष माना है। इतना बल अहिंसा पर मनु देते हैं। महाभारत आदि इतिहास-ग्रन्थों में भी हिंसा की निन्दा की गई है और क्षमा तथा अहिंसा को श्रेष्ठ बताया गया

---

१. दृढ़कारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत् स्वर्गं तथाव्रतः। मनु. ४. २४६।

२ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते। मनु. ६. ६०।

३. अहिंसयेन्द्रियाऽसङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः।
तपश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्। मनु. ६. ७५।

४. अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते। मनु. ४. १७०।

५. मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाटया च कामजो दशको गणः। मनु. ७. ४७।

६. पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोपि गणोऽष्टकः। मनु. ७. ४८।

७. पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
तत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे। मनु. ७. ५०।
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पाकष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा। मनु. ७. ५१।

है । धृतराष्ट्र को दिये गये उपदेशों में विदुर जी ने यह भी कहा है कि "असाधु लोग हिंसा में बल समझते हैं परन्तु गुणी लोग क्षमा में बल समझते हैं[1] ।" इस प्रसंग में धर्मशास्त्रों, इतिहासों और पुराणों से और भी जितने चाहें प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं । पर उस की आवश्यकता नहीं है । भारतीय आर्यों की विचार-परम्परा में अहिंसा को सब से बड़ा धर्म माना गया है इसे आर्य-साहित्य का अध्ययन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति भली-भांति जानता है । इसी विचार का सूचक बड़ा प्रसिद्ध वाक्य "**अहिंसा परमो धर्मः**" आर्यों में खूब प्रचलित है ।

इस सम्बन्ध में हम अपने सुप्रसिद्ध दर्शन योगदर्शन की सम्मति का उल्लेख और कर देना चाहते हैं । योगदर्शन में जीवन को पवित्र बनाने के साधनों का वर्णन किया गया है, जिन साधनों के अनुष्ठान द्वारा अपने जीवनों को सर्वथा निष्पाप, निष्कलङ्क, निर्मल और पवित्र बना कर एक दिन हम परमात्मा के दर्शन करने में समर्थ बन जायेंगे । उन साधनों में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन पांच नियमों[2] और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों यमों का भी वर्णन किया गया है । और इन यम-नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक बताया गया है । महर्षि पतञ्जलि के यम और नियमों विषयक सूत्रों की व्याख्या करते हुए महर्षि व्यास अपने भाष्य में लिखते हैं—"किसी भी प्राणी के साथ कभी भी किसी भी प्रकार से द्वेष न करने को अहिंसा कहते हैं । शेष यम और नियमों का मूल अहिंसा ही है और अहिंसा की सिद्धि के लिये ही, अहिंसा का भली-भांति प्रतिपादन (पालन) करने के लिये ही, उन का प्रतिपादन (पालन) किया जाता है । अहिंसा को ही शुद्ध रूप में पालन करने के लिये शेष यम-नियमों का उपादान (ग्रहण = पालन) किया जाता है[4] ।" इस प्रकार योगदर्शन की सम्मति में यम-नियमों में अहिंसा सर्व-प्रधान है । अहिंसादि पांचों यमों के निरपवाद और पूर्णरूप से पालन को योगदर्शन मे "महाव्रत"[5] कहा गया है । योगदर्शनकार

---

१. हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् । महा. उद्योगपर्व ३९. ६६ ।

२. शौच-सन्तोष-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । योग. २. ३२ ।

३. अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । योग. २. ३० ।

४. तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धि-परतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते । तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते ।

योग. भाष्य २. ३० ।

५. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् । योग. २. ३१ ।

की सम्मति में "अहिंसा" सब से बड़ा महाव्रत है। इस अहिंसा रूप महाव्रत के पालन के लिये ही शेष सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन "महाव्रतों" और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इन "व्रतों" का पालन किया जाता है। जिस में सत्य आदि यम और नियम नहीं हैं वह अहिंसा-रूप यम का पालन नहीं कर सकता। इसी लिये सत्य आदि के पालन की आवश्यकता पड़ती है साध्य तो अहिंसा है। सत्य आदि का पालन तो अहिंसा के साधन के रूप में करना पड़ता है। यह है अहिंसा के सम्बन्ध में आर्यों के सुप्रसिद्ध और अपने प्रकार के अद्वितीय दर्शन योगदर्शन की सम्मति। उस की सम्मति में भी अहिंसा सब से बड़ा धर्म है—सब से बड़ा "महाव्रत" है।

अहिंसा सभी वर्णों और सभी आश्रमों का धर्म है

कोई कह सकता है कि योगदर्शन तो योगी-महात्माओं के लिये है। उन लोगों के लिये है जो परमात्मा की तलाश में लगना चाहते हों। सांसारिक लोगों के लिये योगदर्शन नहीं है। योगी-महात्मा लोग इस प्रकार की अहिंसा का पालन करते रहें। जिन्हें अपना संसार चलाना है उन्हें ऐसी अहिंसा नहीं चाहिये। ऐसा कहने वाले लोगों का यह विचार भ्रान्त है। आर्य-शास्त्रों में यम और नियमों का विधान केवल योगी-महात्माओं के लिये ही नहीं है। आर्य-शास्त्रों में यम-नियमों का पालन सभी वर्णों और सभी आश्रमों के लिये आवश्यक बताया गया है। मनु आदि धर्म-शास्त्रों में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, राजा और प्रजा, सभी के लिये यम-नियमों के पालन का आदेश दिया गया है। वैदिक-धर्म के इस युग के सब से बड़े प्रचारक महर्षि दयानन्द ने भी अपने सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि आदि ग्रंथों में मनु आदि धर्म-शास्त्रों के प्रमाण देते हुए यम-नियमों के पालन को सभी आश्रमों और सभी वर्णों के लोगों के लिये आवश्यक बताया है।

फिर एक बात और इस सम्बन्ध में स्मरण रखने की है। योगाभ्यास भी केवल वानप्रस्थियों और संन्यासियों के लिये ही नहीं है। आर्य-शास्त्रों में योगाभ्यास को शिक्षा का आवश्यक अङ्ग माना गया है। विद्यार्थी-काल में ही अन्यान्य विषयों की शिक्षा के साथ-साथ योगाभ्यास की शिक्षा भी आरम्भ हो जायेगी। प्राचीन शास्त्रों के आदेशों को ध्यान में रख कर ऋषि दयानन्द ने भी अपनी शिक्षा-विधि में ब्रह्मचारी के लिये योगाभ्यास को आवश्यक रखा है। ऋषि दयानन्द ने ब्रह्मचारी और गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी सभी के लिये योग का अभ्यास करने का आदेश दिया है। इस प्रकार यम और नियमों

का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। अहिंसा यम-नियमों में सर्व-प्रधान है। इस लिये प्रत्येक व्यक्ति के लिये अहिंसा का प्रधान रूप से पालन करना आवश्यक है।

अहिंसा के दो रूप

अहिंसा के दो रूप होते हैं। एक निषेधात्मक और दूसरा विध्यात्मक। अपने सुख-आराम के लिये—अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये—किसी भी प्राणी को किसी भी अवस्था में पीड़ित न करना, कष्ट न पहुंचाना, यह अहिंसा का निषेधात्मक (Negative) रूप है। मेरे पास-पड़ौस में जो प्राणी पीड़ित हैं, जो प्राणी कष्ट में पड़े हैं, उन के पास जा कर उन के कष्ट को दूर करना—चाहे यह कष्ट भूख-प्यास का हो, नंगेपन का हो, निर्धनता का हो, रोगों का हो, अविद्या का हो, और चाहे किसी अन्य प्रकार का हो—अहिंसा का विध्यात्मक (Positive) रूप है।

पूर्ण अहिंसा

जब कोई व्यक्ति अहिंसा के इन दोनों रूपों का पूर्ण रूप से पालन करने लग जाता है तो उस में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है। और जब किसी समाज या राष्ट्र की यह अवस्था हो जाती है कि उस में कोई किसी को सताता नहीं, कोई किसी को पीड़ित नहीं करता, कोई किसी पर अत्याचार नहीं करता, कोई किसी के अधिकारों को नहीं हड़पता, कोई किसी को अपना गुलाम नहीं बनाता, कोई बलवान् किसी निर्बल को डराता और दबाता नहीं, सब के साथ पूर्ण न्याय का बर्ताव होता है, और जहां सब एक-दूसरे की सहायता करते हैं, एक-दूसरे के कष्टों को निवारण करने में तत्पर रहते हैं तथा एक-दूसरे के सुख-आराम को बढ़ाने का पूरा प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार जिस के घर-घर में सुख और आनन्द की गंगा बहती रहती है, तो उस समाज या राष्ट्र में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है। वहां अहिंसा अपने पूर्ण रूप में विराज रही होती है।

अहिंसा का सिद्धान्त वैदिक-धर्म का अपना सिद्धान्त है

आज कल के हिन्दुओं की कुछ निर्बलताओं को देख कर और उन्हें दूर करने की भावना से प्रेरित हो कर कुछ हिन्दु लोग, जो कि पूर्ण विचार से काम नहीं लेते, यह कह देते हैं कि अहिंसा को परम-धर्म मानने का—अहिंसा को सब से बड़ा धर्म मानने का—सिद्धान्त हिन्दु-धर्म या आर्य-धर्म का सिद्धान्त नहीं है। उन की सम्मति में यह सिद्धान्त बौद्ध और जैन लोगों का सिद्धान्त है। उन लोगों की ऐसी धारणा ठीक नहीं है। जैसा ऊपर की पंक्तियों में दिखाया गया

है अहिंसा को सब से बड़ा धर्म मानने का सिद्धान्त आर्य-शास्त्रों का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त बौद्ध और जैनों का नहीं है। बौद्ध और जैन लोगों ने यह सिद्धान्त वैदिक धर्मियों से लिया है। यह सिद्धान्त ऐसा है कि प्रत्येक विचारशील मनुष्य इसे व्यक्ति और समाज के लिये अत्यन्त आवश्यक मानेगा। संसार की समाज-संघटन सम्बन्धी पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद और वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि जितनी भी पद्धतियें हैं, एकतन्त्रीय और प्रजातन्त्रीय जितनी भी शासन-व्यवस्थायें हैं, संसार के जितने भी राजनैतिक विचारक हैं, और जितने भी समाज के संघटन पर विचार करने वाले लोग हैं, सभी सिद्धान्त-रूप में समाज की ऐसी व्यवस्था करना चाहते हैं जिसमें कोई किसी को पीड़ित नहीं कर सकेगा, कोई किसी पर अत्याचार नहीं कर सकेगा, कोई किसी के अधिकारों को नहीं हड़प सकेगा, सब परस्पर का सहयोग करेंगे और इस प्रकार सब के घरों में सुख और आनन्द की गंगा बहेगी। सभी विचारक और सभी पद्धतियें अहिंसा के सिद्धान्त पर ही समाज की रचना और व्यवस्था करना चाहते हैं। इस प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त तो सार्वभौम सिद्धान्त है। संसार के सभी विचारक इसे सबसे बड़ा कर्तव्य——सबसे बड़ा धर्म——मानते हैं। अन्य देशों के विचारकों ने चाहे अहिंसा शब्द का प्रयोग न किया हो पर बात वे वही कहते हैं जो आर्य-शास्त्रों में अहिंसा शब्द द्वारा कही गई है। यदि हिन्दु-धर्म अहिंसा के सिद्धान्त को छोड़ देता है तो वह अपनी सब से कीमती चीज को खो बैठता है। हिन्दु-धर्म संसार के पीड़ित लोगों को जो सब से बड़ा सन्देश दे सकता है वह अहिंसा का धर्म ही है। अहिंसा का सिद्धान्त वैदिक धर्म का——हिन्दु-धर्म का——सिद्धान्त है और उसे इस बात का अभिमान है कि संसार में सब से पहले इस सिद्धान्त का आविष्कार और प्रचार उसी ने किया है। यह सिद्धान्त बौद्ध और जैन लोगों का अपना नहीं है। यह उन्होंने वैदिक धर्म से उधार लिया है। और इस अंश में बौद्ध और जैन लोग वैदिक धर्म की ही बात कहते हैं और उस के ऋणी हैं[१]।

---

१. जैसा अभी ऊपर के पृष्ठों में हम ने देखा है आर्यों (हिन्दुओं) के धर्म-शास्त्रों में अहिंसा के सिद्धान्त को धर्म का सब से प्रधान अङ्ग माना गया है और उस के पालन पर अत्यधिक बल दिया गया है। आर्य-शास्त्रों में अहिंसा को परम धर्म——सब से बड़ा धर्म——माना गया है। "अहिंसा परमो धर्मः" यह प्रसिद्ध वाक्य भी हिन्दुओं के ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर पाया जाता है। उदाहरण के लिये पद्मपुराण में कहा गया है——
'अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसैव परं तपः, अहिंसा परमं दानमित्याहुर्मनीषिणः।"
पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड ३१. २७।

अहिंसा डरपोक नहीं बनाती

कुछ लोगों की यह भी भ्रान्त धारणा है कि अहिंसा का सिद्धान्त लोगों को डरपोक और दब्बू बना देता है। अपने जीवन में अहिंसा का पूर्ण पालन करने वाले संसार के बड़े-बड़े लोग दब्बू और डरपोक नहीं होते रहे हैं। वे पूर्ण निर्भय होते रहे हैं। और निर्भय हो कर बड़े-से-बड़े विरोध के सामने भी अपनी बातें लोगों को सुनाते रहे हैं। अपने जीवनों में अहिंसा का पूर्ण पालन करने वाले महात्मा बुद्ध, हज़रत ईसा, महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा गांधी जैसे महानुभाव दब्बू और डरपोक नहीं थे। वे सब कष्ट सह कर भी निडर हो कर, बड़े-से-बड़े विरोध के सामने भी अपनी बातें संसार को सुनाने की शक्ति रखते थे। ऐसे लोगों के पास भय फटकता भी नहीं। महात्मा गान्धी को तो सारे ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति भी डरा सकने का सामर्थ्य नहीं रखती थी। महात्मा गान्धी के उपदेशों और जीवन के उदाहरण ने तो भारत भर की जनता को निडर बना दिया था जिस का परिणाम-स्वरूप लोग छाती खोल कर ब्रिटिश संगीनों का मुकाबला करते थे और जेलों में जाने को उद्यत रहते थे। लोगों ने ऋषि दयानन्द को बार-बार ज़हर पिलाया और तलवार से गरदन उड़ा देने की धमकियें दीं, फिर भी ऋषि निर्भय हो कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। ऋषि दयानन्द के परम भक्त और शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली के चांदनी-चौक में गोरखों की संगीनों के आगे निर्भीक भाव से अपनी छाती खोल दी थी। अहिंसा-धर्म का पालन किसी को डरपोक नहीं बनाता है। व्यक्ति को डरपोक बनाने वाले कारण तो कोई और ही होते हैं।

अहिंसा और क्षात्र-धर्म

यहां एक बात ध्यान में रखने की है। वैदिक धर्म अहिंसा को सब से बड़ा धर्म मानते हुए भी क्षात्र-धर्म या राज-धर्म का उपदेश भी साथ ही देता है। वैदिक धर्म की वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में क्षत्रिय वर्ण का भी स्थान है। क्षत्रिय-धर्म या राज-धर्म में पुलिस और सेनाओं का भी स्थान है, जेलखानों और शस्त्रास्त्रों का भी स्थान है। और क्षत्रिय-धर्म में युद्धों का भी स्थान है। क्षत्रिय-धर्म या राज-धर्म के पालन में आवश्यकता होने पर किसी व्यक्ति को जेल में भी डाला जा सकता है, गोली से भी उड़ाया जा सकता है और फांसी पर भी लटकाया जा सकता है। तथा आवश्यकता पड़ने पर युद्ध कर के रुधिर की नदियें भी बहाई जा सकती हैं। इस भांति एक प्रकार की हिंसा का विधान भी वैदिक धर्म में है। तब इस हिंसा और अहिंसा के परम धर्म होने के सिद्धान्त

का आपस में समन्वय कैसे होगा---दोनों की संगति कैसे बैठेगी ?

इन दोनों बातों की संगति हो जाती है। हमारा अहिंसा का व्रत है। हम अपनी ओर से सब के साथ अहिंसा का ही बरताव करेंगे। अपने सुख-आराम और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये हम कभी किसी के साथ हिंसा का व्यवहार नहीं करेंगे। परन्तु यदि हमारे साथ कोई हिंसा का बरताव करेगा तो हम अपनी आत्म-रक्षा के लिये हिंसा का प्रयोग कर सकते हैं। जो व्यक्ति हमारे साथ हिंसा का व्यवहार करता है उसे रोकने के लिये हमें कितना दण्ड उसे देना चाहिये इस का निश्चय करना अकेले व्यक्ति के लिये आसान नहीं होता। जब हमारे साथ अन्याय और अत्याचार हो रहा हो तो हम आवेश में आ कर अन्याय करने वाले व्यक्ति को उस के अपराध के अनुपात से बहुत अधिक दण्ड भी दे सकते हैं। इस से बचने के लिये राज-धर्म में यह व्यवस्था कर दी जाती है कि कोई व्यक्ति किसी अपराधी को स्वयं दण्ड नहीं देगा। अपराधी की शिकायत पुलिस और न्यायालय में की जायेगी। न्यायाधिकारी जितना उचित समझेंगे उतना दण्ड अपराधी को देंगे। और यदि ऐसी अवस्थायें हों कि हमारे जीवन का ही खतरा हो और उस समय पुलिस आदि तक जाने का अवकाश ही न हो तो आत्म-रक्षा के लिये कोई व्यक्ति स्वयं भी यथोचित हिंसा का प्रयोग कर सकता है।

इसी प्रकार हमारा राष्ट्र भी अहिंसा का व्रती रहेगा। वह अपनी ओर से कभी दूसरे राष्ट्र के साथ अन्याय नहीं करेगा और उस के अधिकारों पर छापा नहीं मारेगा। हमारा राष्ट्र अपनी ओर से कभी किसी दूसरे राष्ट्र को पीड़ित नहीं करेगा। हमारा राष्ट्र अपनी ओर से पहल कर के कभी किसी दूसरे राष्ट्र के प्रति हिंसा का बरताव नहीं करेगा। किन्तु यदि कोई दूसरा राष्ट्र हमारे राष्ट्र के साथ अन्याय करता है, हमारे राष्ट्र के अधिकारों पर छापा मारता है, हमारे राष्ट्र को पीड़ित करता है और इस प्रकार हमारे राष्ट्र के साथ हिंसा का व्यवहार करता है तो अपनी रक्षा के लिये हमारा राष्ट्र इस दूसरे राष्ट्र से युद्ध भी कर सकता है। राज-धर्म में ऐसी अवस्थाओं में युद्ध करने की व्यवस्था रहती है। परन्तु किसी राष्ट्र के साथ युद्ध करने का अन्तिम निश्चय करने से पहले शान्ति के सारे उपायों का अवलम्बन कर लेना होगा, हलकी मनोवृत्ति से युद्ध नहीं छेड़ देना होगा। युद्ध की घोषणा करने से पहले अपनी राष्ट्र-सभा में उस के सम्बन्ध में पूर्ण विचार कर लेना होगा। राज-सभा की स्वीकृति के अनन्तर ही युद्ध छेड़ा जा सकेगा। यह आत्म-रक्षा का युद्ध हमारा अहिंसा-व्रती राष्ट्र कर सकेगा।

व्यक्ति और राष्ट्र दोनों ही आत्म-रक्षा के लिये हिंसा का अवलम्बन कर सकते हैं। वेद में इस प्रकार की हिंसा करने की आज्ञा है। पौराणिक-धर्मावलम्बी याज्ञिक लोगों में एक कहावत प्रसिद्ध है कि **"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"**, अर्थात् "वेद में जिस हिंसा का विधान है वह हिंसा हिंसा नहीं हुआ करती।" याज्ञिक लोग तो यज्ञों में की जाने वाली पशु-हिंसा के सम्बन्ध में ऐसा कहते हैं। यज्ञों के सम्बन्ध में तो उन का ऐसा कहना गलत है। वेद में यज्ञों में पशु-हिंसा करने का विधान बिलकुल भी नहीं है[1]। इस विषय में अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। स्थानाभाव से यहां वैसा कर सकना संभव नहीं है।

अन्यायी और अत्याचारी दस्यु कोटि के लोगों से आत्म-रक्षा करने के लिये हिंसा के प्रयोग की आज्ञा वेद में है। आत्म-रक्षा के लिये व्यक्ति भी हिंसा का अवलम्बन कर सकता है और राष्ट्र भी। वेद में विहित ऐसी हिंसा हिंसा नहीं होती। क्योंकि वह हिंसा हिंसा करने की नीयत से नहीं की जाती, वह तो हिंसा को रोकने की नीयत से की जाती है। उस हिंसा के द्वारा तो हम अपने ऊपर हो रही हिंसा से अपना बचाव करते हैं और हिंसक को दण्ड दे कर भविष्य में उसे हिंसा से रोकने की कोशिश करते हैं। रूपान्तर से वह हिंसा अहिंसा बन जाती है। एक शल्य-चिकित्सक (Surgeon) रोगी के अङ्गों को अपने शस्त्रों से काटता है। प्रकट में तो वह उस समय हिंसा कर रहा है—रोगी को पीड़ा दे रहा है। परन्तु शल्य चिकित्सक की यह हिंसा रोगी को भविष्य में सुखी बनाने की नीयत से है। उस की वह हिंसा अहिंसा का ही अङ्ग है। रूपान्तर से वह हिंसा अहिंसा ही है। इसी दृष्टि से वेद-शास्त्रों ने व्यक्ति और राष्ट्र को विशेष अवस्थाओं में अपनी रक्षा के लिये हिंसा के प्रयोग की आज्ञा दी है।

अनेक लोग ऐसी मनोवृत्ति के होते हैं जो उन के प्रति किये जा रहे हमारे अहिंसा के बरताव को हमारी कमज़ोरी का प्रमाण समझते हैं। और हमें कमज़ोर समझ कर हमारे साथ मनमाना बरताव करते हैं। ऐसे लोगों से अपनी रक्षा करने के लिये व्यक्ति और राष्ट्र को हिंसा के प्रयोग की भी आवश्यकता पड़ जाती है। वैदिक धर्म में क्षात्र-धर्म और राज-धर्म का उपदेश इसी अभिप्राय से किया जाता है।

---

१. इस सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ के "वेद और गोपालन" प्रकरण में "गौवों की हत्या नहीं की जा सकती" (पृष्ठ ४२—४५) और "यज्ञों में गो-हिंसा वेद-विरुद्ध है" (पृष्ठ ४६—५०) नामक खण्डों को देखिये।

हमारा मुख्य धर्म अहिंसा ही है। कभी-कभी अपवाद रूप में, अहिंसा की स्थापना के लिये, हिंसा का अवलम्बन भी करना पड़ जाता है। परन्तु हमें हिंसा का प्रयोग यों ही हलकेपन से नहीं करने लग जाना चाहिये। हमारी स्वयं की मनोवृत्ति पूर्ण अहिंसा की रहनी चाहिये। हमें अहिंसा-व्रती होना चाहिये। हमें स्वयं तो कभी पहल कर के हिंसा करनी ही नहीं चाहिये। हमारे साथ कोई दूसरा हिंसा का प्रयोग करे––हमें कष्ट पहुंचाना चाहे––तो भी हमें बदले में झट हिंसा का प्रयोग नहीं करने लग जाना चाहिये। हमें यथासंभव उसे क्षमा करने और समझाने का प्रयत्न करना चाहिये। जब लाचारी ही हो जाये तभी हमें अपने बचाव की दृष्टि से हिंसा का प्रयोग करना चाहिये और वह भी यथासंभव कम-से-कम मात्रा में। हमें अपने महापुरुषों का चरित्र स्मरण रखना चाहिये। महाराज रामचन्द्र जी ने अन्तिम समय तक युद्ध को रोकने की कोशिश की थी। लङ्का में अपनी सेनायें उतार देने के पश्चात् भी उन्होंने अङ्गद को भेज कर रावण से संधि करने का प्रस्ताव किया था। महाराज कृष्णचन्द्र जी ने शिशुपाल के १०० अपराध क्षमा किये थे। महाभारत का युद्ध न हो इस के लिये वे इस बात पर भी संधि करने के लिये उद्यत हो गये थे कि सारा या आधा राज्य न सही, पाण्डवों को केवल पांच गाँव ही दे दिये जायें। ऋषि दयानन्द जैसे महापुरुष अपने को विष देने वाले लोगों को भी क्षमा करते रहे हैं। हमारा धर्म तो अहिंसा ही है। हिंसा तो केवल आपद्धर्म है। वैदिक-धर्म अहिंसा और हिंसा का इस प्रकार समन्वय––संगति––करता है।

मांस-भक्षण के लिये की जाने वाली हिंसा सब से बड़ा पाप है

जब वैदिक-धर्म––हिन्दु-धर्म––की दृष्टि में अहिंसा सब से बड़ा धर्म है है तो वह हिंसा जो अत्याचारी से अपनी रक्षा करने के लिये न की गई हो स्वयं ही सब से बड़ा पाप हो जाती है। और मांस का भोजन इसी प्रकार की हिंसा के द्वारा प्राप्त होता है। इस लिये मांस-भक्षण वैदिकधर्म की दृष्टि में सब से बड़ा पाप है। अतः मांस-भक्षण करने का यह सब से बड़ा पाप-कर्म हमें नहीं करना चाहिये।

हिंसा सब से बड़ा पाप क्यों है ?

मांस-भक्षण के लिये की जाने वाली हिंसा क्यों सब से बड़ा पाप है इसे जरा समझ लेना चाहिये। अपने सुख-आराम के लिये, अपनी स्वार्थपूर्ति और खुदगर्ज़ी के लिये, दूसरे प्राणी को कष्ट देना पाप कहलाता है। चोरी करना, झूठ बोलना आदि हमारे अन्य जितने भी पाप हैं उन्हें कर के जब हम

किसी व्यक्ति को हानि पहुंचाते हैं तो हम उस की परिपूर्ण हानि (Complete Damage) नहीं करते। हम उस की चाहे कितनी ही बड़ी हानि क्यों न करें फिर भी वह आंशिक हानि (Partial Damage) ही रहती है। और फिर यदि हम चाहें तो इस हानि का प्रतीकार भी कर सकते हैं। मान लीजिये हम ने किसी के दो लाख रुपये चुरा लिये। हम ने उसे बड़ी भारी हानि पहुंचाई। फिर भी यह हानि आंशिक है। हम ने उस का सब कुछ नहीं छीन लिया। उस के पास फिर भी कुछ-न-कुछ बचा रहता है। मान लीजिये हम ने किसी का घर-बार ही फूंक दिया--किसी की सारी सम्पत्ति ही नष्ट कर दी। हम ने उसे बहुत बड़ी हानि पहुंचाई। फिर भी यह हानि आंशिक है। हम ने उस का सब कुछ नहीं नष्ट कर दिया है। उस के पास फिर भी कुछ-न-कुछ बचा रहता है। और नहीं तो उस का जीवन तो बचा ही रहता है। काम करने के लिये उस का मस्तिष्क और दो हाथ और दो पैर तो बचे ही रहते हैं। वह उन के सहारे फिर भी सब कुछ पैदा कर लेगा। हम चाहें तो इस हानि का प्रतीकार भी कर सकते हैं। हम उस के दो लाख रुपये वापिस कर सकते हैं, उस का घर फिर बनवा दे सकते हैं, फिर उस को उस की सारी सम्पत्ति दे सकते हैं। हम उस से क्षमा भी मांग सकते हैं। और नहीं तो राज्य द्वारा हमें दण्ड मिल कर उस का आत्म-सन्तोष हो सकता है। परन्तु जब हम मांस-भक्षण के लिये किसी प्राणी को मारते हैं तो हम उसे जो हानि पहुंचाते हैं वह परिपूर्ण हानि (Complete Damage) होती है। हम उस प्राणी का सब कुछ छीन लेते हैं। हम उस का जीवन ही ले लेते हैं। उसे अपने जीवन में जो सुख और आनन्द प्राप्त होने थे हम उस के उन सब सुख और आनन्दों को उस से छीन लेते हैं।

एक गाय जब अपने बछड़े को और एक बकरी जब अपने मेमने को चाट रही होती है, तथा बछड़ा और मेमना उन्हें चाट रहे होते हैं और पूंछ उठा कर प्रसन्नता से सिर मार-मार कर उन का दूध पी रहे होते हैं, तो उन्हें उस से कम आनन्द नही आ रहा होता जितना आनन्द हमारी माता को अपने बच्चे को चूमते समय और बच्चे को हूं-हूं कर के अपनी मां का दूध पीते समय आ रहा होता है। एक गाय और बकरी को हरी घास चरते समय उस से कम आनन्द नहीं आ रहा होता जितना हमें अपने बढ़िया-बढ़िया भोजन करते समय आ रहा होता है। गाय और बकरियों को मैदानों में दौड़ते और कूदते हुए उस से कम आनन्द नहीं आ रहा होता है जितना हमें खेलते और कूदते हुए आता है। गाय और बकरी जब प्रातःकाल की मीठी

धूप में खड़ी हो कर आंखें मीच कर जुगाली कर रही होती हैं तो उन्हें उस से कम आनन्द नहीं आ रहा होता है जितना हमें प्रातः-काल की धूप सेकने में आता है। गाय-बकरी के और मनुष्य के सब शारीरिक आनन्द एक जैसे हैं। हमारे शारीरिक आनन्द जितना हमें प्रसन्न करते हैं, गाय-बकरी के शारीरिक आनन्द भी उन्हें उतना ही प्रसन्न करते हैं। यही बात अन्य पशु-पक्षियों की है। उन के भी अपने-अपने आनन्द हैं। वे भी अपने आनन्दों को प्राप्त कर के अपने में उतना ही प्रसन्न होते हैं जितना हम होते हैं। जब हम किसी पशु और किसी पक्षी को मार कर खा जाते हैं तो हम उस का सभी कुछ छीन लेते हैं। उसे जीवन में मिलने वाले उस के सारे आनन्दों से वंचित कर देते हैं। उस की हम वह चीज़ छीन लेते हैं जो हम उसे वापिस नहीं दे सकते, जिस का हम कोई प्रतीकार नहीं कर सकते। अतः मांस-भक्षण के लिये की जाने वाली हिंसा सब से बड़ा पाप है। क्योंकि अपने सुख-आराम के लिये, अपनी स्वार्थपूर्ति और खुदगर्ज़ी के लिये, यह हिंसा कर के हम ऐसा पाप करते हैं जिस में हम प्राणी को परिपूर्ण हानि (Complete Damage) पहुंचाते हैं, जिस हानि का बदला नहीं चुकाया जा सकता है और प्रतीकार नहीं किया जा सकता है। हमें अपने स्वार्थ के लिये किसी प्राणी के साथ इतना बड़ा पाप करने का क्या अधिकार है? हमें तो अपने स्वार्थ के लिये किसी के प्रति छोटा-सा पाप भी नहीं करना चाहिये। ऐसे सब से बड़े पाप की तो बात ही क्या है। महात्मा बुद्ध ने हिंसा-अहिंसा की विवेचना करते हुए तभी तो अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि "जो चीज तुम किसी को दे नहीं सकते वह तुम्हें उससे छीनने का अधिकार नहीं है।" हम किसी के प्राण लेकर फिर उसे वापिस नहीं दे सकते। अतः हमें मांस खाने के लिये किसी प्राणी के प्राण नहीं लेने चाहियें। क्योंकि मांस खाने के लिये किसी प्राणी की हिंसा करना सबसे बड़ा पाप है।

मनुष्य को पशु-पक्षियों को मारने का अधिकार नहीं है

कई लोग कह देते हैं कि मनुष्य परमात्मा की सृष्टि में सब प्राणियों से श्रेष्ठ और ऊंचा प्राणी है, इस लिये मनुष्य को अधिकार है कि वह दूसरे प्राणियों से जैसा चाहे वैसा उपयोग ले ले और आवश्यक प्रतीत होने पर चाहे तो उन का मांस भी खा ले। इस लिये पशु-पक्षियों का मांस खाने में कोई दोष नहीं है। हम पूछते हैं कि मनुष्य की दूसरे प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठता और उच्चता किस बात पर अवलम्बित है? उस की यह श्रेष्ठता और उच्चता इसी बात पर अवलम्बित है न कि उस में बहुत से प्राणियों की अपेक्षा बल अधिक है और सभी प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि की शक्ति अधिक है। क्यों-

कि मनुष्य में दूसरे प्राणियों की अपेक्षा शारीरिक शक्ति और बुद्धि की शक्ति अधिक है इस लिये उसे यह अधिकार कैसे प्राप्त हो गया कि वह चाहे तो दूसरे प्राणियों को मार कर भी खा जाये ? जिस के पास शारीरिक और दिमागी शक्ति अधिक हो वह दूसरे प्राणियों पर जैसे चाहे अत्याचार कर सकता है तो इस सिद्धान्त को मनुष्यों पर क्यों नहीं लागू किया जाता ? शक्तिशाली मनुष्य को कमज़ोर लोगों के साथ मनमाना व्यवहार करने का अधिकार क्यों नहीं है ? अंग्रेज़ लोग हम भारतवासियों पर दो सौ साल तक राज्य करते रहे और हमारे देश के लोगों के साथ मनमाना अन्याय और अत्याचार करते रहे तो वे क्या बुरा करते रहे ? हम उन्हें बुरा क्यों कहते थे ? वे तो हम से शक्तिशाली थे। शक्तिशाली निःशक्त के साथ जैसा चाहे बरताव कर ही सकता है। क्योंकि वह शक्तिशाली होने के कारण निःशक्त की अपेक्षा श्रेष्ठ और ऊंचा है। नहीं, कोई किसी से शक्तिशाली होने के कारण श्रेष्ठ और ऊंचा नहीं होता। शक्ति के कारण दूसरों के साथ मनमाना व्यवहार करने वाला व्यक्ति चोर, डाकू, हत्यारा, दस्यु और राक्षस आदि नामों से कहा जाता है। उसे श्रेष्ठ और ऊंचा नहीं समझा जाता। उसे नीच और पतित समझा जाता है। श्रेष्ठ उसे समझा जाता है जो कमज़ोरों की सहायता और रक्षा करता है, जो रोगियों की सेवा और शुश्रूषा करता है। हम अपने बूढ़े और निःशक्त, रोगी और दुर्बल माता-पिता और दूसरे सम्बन्धियों को मार नहीं डालते। यदि कोई ऐसा करेगा तो वह घोर राक्षस और नीच माना जायेगा। हम शक्ति-हीन बूढ़ों की और रोगियों की, सब तरह के कष्ट सह कर भी, सेवा करते हैं। ऐसा करने वालों की सब जगह प्रशंसा होती है और उन्हें श्रेष्ठ समझा जाता है। श्रेष्ठ वह है जो अपने से दुर्बलों के साथ न्याय और दया का बरताव करता है, उन की सहायता और रक्षा करता है। पशु और पक्षी मनुष्य से कमज़ोर हैं। मनुष्य को उन पर दया करनी चाहिये––उन की सहायता और रक्षा करनी चाहिये। अपने से निर्बल होने के कारण जो व्यक्ति पशु-पक्षियों पर अत्याचार करता है वह पापी है। और जो उन्हें मार कर उन का मांस खा जाता है वह तो घोर हिंसक और अत-एव घोर पापी है। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा क्योंकि अधिक शक्तिशाली है इस लिये वह उन से श्रेष्ठ और ऊंचा है यह सिद्धान्त मनुष्य ने स्वयं बना रखा है। कोई पशु-पक्षियों से उन के मन की बात पूछ कर देखे। किसी पर अत्याचार करने वाला और उसके प्राण लेने वाला व्यक्ति अपने अत्याचार के पात्र प्राणी से कभी श्रेष्ठ और ऊंचा नहीं हो सकता।

इस प्रकार वैदिक धर्म की दृष्टि में मांस का भोजन क्योंकि हिंसा के द्वारा प्राप्त होता है इस लिये मांस खाना सब से बड़ा पाप है--घोर पाप है। और इसी लिये मांस-भक्षण सर्वथा निषिद्ध है।

२

वेद-शास्त्र मांस-भक्षण का निषेध करते हैं

वैदिक धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त के परिणाम-स्वरूप तो वैदिक धर्म में मांस-भक्षण का निषेध है ही, वेदादि शास्त्रों में मांस-भक्षण का यों भी स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है। उदाहरण के लिये अथर्ववेद १६. ३१ सूक्त में इस विषय का वर्णन है कि मनुष्य को अपने आप को पुष्ट बनाने के लिये भांति-भांति की ओषधियों और अनाजों का सेवन करना चाहिये तथा पशुओं से भी सहायता लेनी चाहिये। सूक्त के एक मन्त्र में पुष्टि का अभिलाषी व्यक्ति कह रहा है--"मैं चौपाये और दो-पाये पशुओं से पुष्टि प्राप्त करता हूं और जो अनाज है उस से भी पुष्टि प्राप्त करता हूं, मैं पशुओं से तो दूध (पयः) लेता हूं और ओषधियों (अनाजों) को चबा कर उन का रस लेता हूं। सब के स्वामी और सब के पैदा करने वाले परमात्मा ने मेरे लिये यही नियम बनाया है[1]।" यहां पुष्टि प्राप्त करने के लिये अनाज-ओषधि खाने के अतिरिक्त पशुओं का दूध पीने का ही वर्णन है। यदि पुष्टि प्राप्त करने के लिये मांस खाना भी वेद को अभीष्ट होता तो मन्त्र में **"पयः पशूनां"** अर्थात् "पशुओं का दूध" ऐसा न कह कर **"पशूनां पयो मांसं च"** अर्थात् "पशुओं का दूध और मांस" ऐसा कह दिया जाता। परन्तु वेद तो केवल पशुओं के दूध का ही सेवन करने की बात कहता है। और कहता है कि परमात्मा ने यही नियम बनाया है कि मनुष्य अपने को पुष्ट बनाने के लिये पशुओं के दूध और अन्न-ओषधियों का सेवन करे। सूक्त के १४ मन्त्रों में मांस खाने का कहीं भी ज़िक्र नहीं है। उद्धृत मन्त्र में पशुओं का दूध पीने के प्रसङ्ग में दोपाये पशु का अभिप्राय मनुष्य-माता से समझना चाहिये। वेद में पशु-शब्द का प्रयोग अपने व्यापक अर्थ में मनुष्य के लिये भी हो जाया करता है। मनुष्य-बालक की पुष्टि के लिये माता का दूध पीना अत्यन्त आवश्यक है ही। इसी प्रकार अथर्व. ४. २७ सूक्त में भी प्रसङ्ग से भोजन के सम्बन्ध में निर्देश आया है। इस सूक्त में मरुतों का वर्णन चल रहा है। यहां मरुतों का वर्णन सैनिकों के रूप में है। प्रसंग से इन सैनिकों के भोजन का वर्णन किया गया है। उन के भोजन के

---

१. **पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।**
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्॥ अथर्व. १६. ३१. ५।

सम्बन्ध में कहा है--"जो ज्ञानी (कवि) मरुत् (सैनिक) गौवों के दूध और भांति-भांति के अन्न तथा ओषधियों के रस का सेवन करते हैं और इस प्रकार अपने भीतर घोड़ों जैसी तेज़ दौड़ने की शक्ति उत्पन्न करते हैं[1]।" यहां भी वेद ने सैनिकों---क्षत्रियों--के अन्दर शक्ति का संचार करने के लिये गौ के दूध का और अनाज तथा ओषधियों का ही भोजन के रूप में विधान किया गया है। गौ के या अन्य किसी पशु के मांस का नहीं।

इसी प्रकार महाराज मनु ने भी अपने धर्म-शास्त्र में मांस-भक्षण का घोर विरोध किया है। मनु जी कहते हैं---"जो मनुष्य अहिंसक प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारता है वह जीवित रहता हुआ और मरा हुआ कहीं भी सुख को नहीं पाता[2]।" "और इस के विपरीत जो मनुष्य प्राणियों को बलात्कार कर के बांधने, और मारने का क्लेश नहीं देता, सब प्राणियों का हितचिन्तक वह व्यक्ति अत्यन्त सुख को भोगता है[3]।" "जो किसी भी निरपराध प्राणी की हिंसा नहीं करता वह जो सोचता है, जो करता है और जिस में नीयत बांधता है उस को सहज ही प्राप्त कर लेता है[4]।" "प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस नहीं मिलता और प्राणियों की हिंसा स्वर्ग में ले जाने वाला काम नहीं है, इस लिये मांस नहीं खाना चाहिये[5]।" "मांस की उत्पत्ति और प्राणियों के बन्ध और वध-रूप पाप को देख कर मनुष्य सभी प्रकार के मांस के भक्षण से बचा रहे[6]।" "जो पिशाचों की विधि का परित्याग कर के मांस को नहीं खाता वह लोक में सब का प्यारा बनता है और रोगों से पीड़ित नहीं होता[7]।" "मारने की सलाह देने वाला, मांस काटने वाला, पशु को मारने वाला, मारने

---

१. पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ। अथर्व. ४. २७. ३।

२. योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥ मनु ५. ४५।

३. यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ मनु. ५. ४६।

४. यद् ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन ॥ मनु. ५. ४७।

५. नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ मनु ५. ४८।

६. समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ मनु. ५. ४९।

७. न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते ॥ मनु. ५. ५०।

के लिये पशु को खरीदने-बेचने वाला, मांस पकाने वाला, परोसने वाला, और खाने वाला, ये आठों मनुष्य घातक (कसाई) हैं[1] ।" "जो पुरुष सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध-यज्ञ करता रहे और जो पुरुष जीवन-भर कभी मांस न खाये उन दोनों का पुण्य-फल एक समान होता है[2] ।" "जिस प्राणी का मांस मैं इस जन्म में खाता हूं वह प्राणी पर जन्म में मुझे खायेगा, ज्ञानी लोग मांस शब्द का यह अर्थ बताते हैं——इस लिये मांस नहीं खाना चाहिये[3] ।" इस से अधिक स्पष्ट शब्दों में मांस-भक्षण का निषेध नहीं हो सकता। अन्य धर्म-शास्त्रों से भी मांस-भक्षण-निषेध सम्बन्धी आदेश बड़ी संख्या में उद्धृत किये जा सकते हैं। पर स्थानाभाव से वैसा करना संभव नहीं है। निदर्शन के लिये वेद और मनुस्मृति के ये उद्धृत प्रमाण ही पर्याप्त हैं।

इस प्रकार वेद-शास्त्रों द्वारा निषिद्ध होने के कारण मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये।

३

मांस-भक्षण के विरोध में युक्तियें

कोई कह सकता है कि हम आर्यों के वेद और शास्त्रों को नहीं मानते। हम उन शास्त्रों के अहिंसा के सिद्धान्त को भी नहीं मानते और उन द्वारा मांस-भक्षण के निषेध की बात को भी स्वीकार नहीं करते। हम तो वैज्ञानिक युक्तियों से परखना चाहते हैं कि मांस खाना चाहिये या नहीं। वेद-शास्त्र की बात वैदिक धर्मियों के लिये मान्य हो सकती है, दूसरों के लिये नहीं। हमें तो कोई युक्ति दो। युक्ति की मांग करने वालों के लिये युक्तियों से भी सिद्ध किया जा सकता है कि मांस मनुष्य का भोजन नहीं है और उसे मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये। इस सम्बन्ध में कुछ बातें नीचे उपस्थित की जाती हैं।

मनुष्य वनस्पति खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है

मनुष्य और शेर, चीता, भेड़िया आदि मांस-भक्षी पशुओं के शरीरों की

---

१. अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ मनु. ५. ५१ ।

२. वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥ मनु. ५. ५३ ।

३. मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ मनु. ५. ५५ ।
(मां+सः=मांसः । मां=मुझ को, सः=वह, जिस का मैंने मांस खाया है, खायेगा। मांस शब्द की यह निरुक्ति है)।

बनावट में कुछ ऐसे भेद पाये जाते हैं जिन से यह प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस-भक्षी पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है प्रत्युत घास और वनस्पति खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है। उदाहरण के लिये जितने मांस खाने वाले पशु हैं उन के शरीर में पसीना नहीं आता। गरमी में उन की जीभ से लार टपकती है। दूसरी ओर जितने घास और वनस्पति खाने वाले गौ, भैंस, घोड़ा और बकरी आदि प्राणी हैं, गरमी में उन के शरीर से पसीना आता है। मनुष्य के शरीर में भी पसीना आता है। इस से प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है, वह घास खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है। मांस उस का भोजन नहीं है। अतः उसे मांस नहीं खाना चाहिये।

फिर, जितने मांस खाने वाले पशु हैं वे घूंट भर कर पानी नहीं पीते। वे जीभ से लप-लप कर के पानी को चाट कर पीते हैं। दूसरी ओर जितने घास और वनस्पति खाने वाले पशु हैं वे सब घूंट भर कर पानी पीते हैं। मनुष्य भी घूंट भर कर पानी पीता है। इस से प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है। वह घास खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है। मांस उस का भोजन नहीं है। उसे मांस नहीं खाना चाहिये।

मांस खाने वाले पशुओं के दांत कीलों की भांति नोकीले होते हैं जिन से वे अपने शिकार के जानवर के मांस को फाड़-फाड़ कर खाते हैं। उन्हें मांस को चबा कर खाने की आवश्यकता नहीं होती। वे मांस के टुकड़े ही निगल जाते हैं। इस लिये मांस को चबाने के लिये उन के मुख में दाढ़ें प्रायः नहीं होतीं। और इसी लिये उन के जबड़े, दाढ़ों के बीच में किसी चीज़ को रख कर चबाने के लिये आवश्यक चक्की की सी घुमाव वाली गति नहीं कर सकते। दूसरी ओर जितने घास और वनस्पति खाने वाले पशु हैं उन के दांत कीलों की भांति नोकीले नहीं होते। उन के मुख में दाढ़ें बहुत होती हैं क्योंकि वे अपने भोजन को चबाते हैं और इसी लिये उन के जबड़े, दाढ़ों के बीच में किसी चीज़ को रख कर चबाने के लिये आवश्यक चक्की की सी घुमाव वाली गति कर सकते हैं। मनुष्य के मुख में भी दाढ़ें बहुत होती हैं। वह भी अपने भोजन को चबा कर खाता है। उस के जबड़े भी भोजन चबाने के लिये आवश्यक चक्की की सी घुमाव वाली गति कर सकते हैं। मनुष्य के मुख में जो दो ऊपर और दो नीचे कीले होते हैं, एक तो वे मांस-भक्षी पशुओं के कीलों की तुलना में, संख्या में अत्यल्प होते हैं, दूसरे वे इतने लम्बे और इतने नोकीले

नहीं होते जितने मांस-भक्षी पशुओं के होते हैं। मनुष्य के ये कीले उसे गन्ना छील कर चूसने, फलों को काटने तथा रस्सियों की गांठें खोलने में सहायता देने के लिये उस के मुख में रखे गये हैं। इन से शिकार के शरीर में से मांस फाड़ने का काम नहीं लिया जा सकता। दांतों की इस बनावट से भी प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस-भक्षी पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है। वह घास खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है। मांस उस का भोजन नहीं है। उसे मांस नहीं खाना चाहिये।

हमारे खाये हुए भोजन को पचाने के लिये हमारे पेट में से जो पाचक रस निकलता है उस में हाइड्रो-क्लोरिक ऐसिड (Hydro-chcloric Acid) नामक तेजाब रहा करता है। मनुष्य के पाचक रस में इस तेजाब का जो अनुपात होता है उस की अपेक्षा मांस-भक्षी पशुओं के पाचक रस में इस तेज़ाब का अनुपात बहुत अधिक होता है। इन पशुओं को बिना चबे हुए मांस और उस के साथ पेट में चली जाने वाली हड्डियों को गलाने और पचाने के लिये इस तेज़ाब की बहुत अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है। इस प्रकार पेट के पाचक रस की बनावट में भेद से भी यह प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस-भक्षी पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है। मांस उस का भोजन नहीं है। उसे मांस नहीं खाना चाहिये।

मांसाहारी पशुओं की अन्तड़ियें उन के शरीर की लम्बाई के अनुपात में बहुत छोटी होती हैं क्योंकि खाये हुए मांस को पच कर शरीर का अंग बनने के लिये अन्तड़ियों में पाचन की अधिक लम्बी और अधिक देर तक रहने वाली प्रक्रिया (process) की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि खाया हुआ मांस पहले ही मांस है। वह पाचन की अपेक्षाकृत थोड़ी प्रक्रिया से ही पशु के शरीर का अंग बन जाता है। एक बात और भी है। मांस बहुत जल्दी सड़ने लगता है। यदि मांसाहारी पशुओं की अंतड़ियें अधिक लम्बी हुआ करतीं तो मांस को उन में देर तक रहना पड़ता और तब मांस के अन्तड़ियों में सड़ने से उन पशुओं के स्वास्थ्य को हानि पहुंचा करती। उधर घास और वनस्पति खाने वाले पशुओं की अन्तड़ियें उन के शरीर की लम्बाई के अनुपात में बहुत लम्बी होती हैं। क्योंकि उन के खाए हुये भोजन को पचा कर शरीर का अंग बनाने के लिये अन्तड़ियों में अधिक लम्बी और अधिक देर तक रहने वाली पाचन की प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। खाया हुआ घास और वनस्पति पशु के शरीर से बहुत भिन्न प्रकार के होते हैं। अतः उन्हें शरीर का अंग बनाने के लिये अन्तड़ियों में लम्बी प्रक्रिया में से गुज़रने की आवश्यकता

होती है। मनुष्य की अन्तड़ियें भी उस के शरीर की लम्बाई के अनुपात में बहुत लम्बी[1] होती हैं। अन्तड़ियों की यह लम्बाई सूचित करती है कि प्रकृति और परमात्मा को तो यह अभीष्ट है कि मनुष्य अन्न और फल आदि वनस्पति की चीजें खाया करे। मांस बहुत शीघ्र सड़ने लगता है। मनुष्य की अंतड़ियें अधिक लम्बी होने के कारण मांस को उन में अधिक देर तक रहना पड़ता है। इस से वहां मांस सड़ने लगता है जिस से मनुष्य के स्वास्थ्य की हानि होती है और उसे कई प्रकार के रोग हो जाते हैं। मांस-भक्षी पशु और मनुष्य की अन्तड़ियों की लम्बाई के इस भेद से भी प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस-भक्षी पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है। वह घास-भोजी पशुओं की श्रेणी का प्राणी है। मांस उस का भोजन नहीं है। उसे मांस नहीं खाना चाहिये।

मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है

मांस यदि हमारा स्वाभाविक भोजन होता तो हमें, भूखा होने की अवस्था में भेड़, बकरी आदि पशुओं और मुर्गा, कबूतर, आदि पक्षियों पर, उन्हें खाने के लिये उस प्रकार झपटना चाहिये था जिस प्रकार शेर, चीता और भेड़िया आदि मांस-भक्षी पशु भूखा होने पर हरिण, खरगोश, भेड़ और बकरी आदि पर झपटते हैं। मांस-भक्षी पशुओं का मांस स्वाभाविक भोजन है। इस लिये वे वैसा करते हैं। मनुष्य का मांस स्वाभाविक भोजन नहीं है। इस लिये वह वैसा नहीं करता। फल अनाज, और दूध आदि मनुष्यों के स्वाभाविक भोजन हैं। वह भूखा होने पर उन्हें लेने के लिये झपटता है। भूखा होने की अवस्था में बाग में फलों से लदा पेड़ देखते ही हमारे मुख में पानी आ जाता है। भूखा होने पर भी भेड़, बकरी आदि को देख कर हमारे मुंह में पानी नहीं आता। कच्चा मांस खाने को भी हमारा जी नहीं करता। कच्चा मांस हमें खाने में स्वाद भी नहीं लगता। हम तो मांस को नमक, मिर्च-मसाले और घी में तल कर उस में स्वाद पैदा करते है। मांस का अपना स्वाद हमारे अनुकूल नहीं है। नमक, मिर्च-मसाले और घी की सहायता से तो किसी भी चीज़ को खाने योग्य स्वाद की बनाया जा सकता है। लोग इन की सहायता से करेले और नीम के पत्तों की

---

१. **मांसाहारी पशुओं की आंतें (Alimentary canal) उन के शरीर (Trunk= धड़) की लम्बाई का लगभग तीन गुणा लम्बी होती हैं। घास खाने वाले पशुओं की आंतें उन के शरीर की लम्बाई का बारह गुणा लम्बी होती है। मनुष्य की आंतें भी उस के शरीर की लम्बाई का बारह गुणा लम्बी होती हैं।**

(The Testimony of Science in Favour of Natural and Human Diet by Sidney H. Beard, Page 18.)

सब्जी को भी खाने योग्य बना लेते हैं। शुद्ध मांस के लिये हमारे मन में स्वाभाविक रूप से कोई आकर्षण नहीं है। फलों आदि के लिये हमारे मन में स्वाभाविक आकर्षण है। माँस-भक्षी पशुओं में शुद्ध रूप में माँस के लिये स्वाभाविक आकर्षण है। इस से भी प्रतीत होता है कि मांस हमारा भोजन नहीं है। और हमें मांस नहीं खाना चाहिये।

जो जंगली लोग कच्चा मांस खा जाते हैं उस में तो यह बात है कि अनाज और फल आदि पर्याप्त मात्रा में न मिलने की अवस्था में उन्हें लाचार हो कर मांस खाना पड़ा। खाते-खाते फिर उन की आदत पड़ गई। जैसे हमें मिर्चें, तमाखू और अफीम आदि खाने की आदत पड़ जाती है। मिर्चें और तमाखू आदि हमारा भोजन नहीं हैं। जब कोई व्यक्ति पहले-पहले मिर्चें और तमाखू का सेवन करने लगता है तो उस से ये चीजें बिलकुल नहीं सेवन की जातीं। उस का मुंह जल जाता है, नाक और आंखों से पानी बहने लगता है। बुरी हालत हो जाती है। पहले-पहले तमाखू पीना शुरू करने वाले लोगों को कई वार उलटी तक आ जाती देखी गई है। मिर्चें और तमाखू हमारा स्वाभाविक भोजन नहीं हैं। स्वभाव से तो हमारे मुख और हमारी जिह्वा को उन से द्वेष है। पर हम जबरदस्ती अभ्यास कर के इन बुरी चीजों के शौकीन बन जाते हैं। और फिर तमाखू पिये बिना हम से नहीं रहा जाता और मिर्चों के बिना हम से रोटी नहीं खाई जाती। यह तो अपनी आदत बिगाड़ लेने वाली बात है। कच्चा मांस खाने के सम्बन्ध में जंगली लोगों ने भी अपनी आदत बिगाड़ी हुई है। यदि माँस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन होता तो मनुष्य-मात्र में कच्चा मांस खाने और भेड़-बकरियों पर झपटने की प्रवृत्ति होनी चाहिये थी। जैसे कि मांस-पक्षी पशुओं में हैं। इस से स्पष्ट है कि मांस मनुष्य का भोजन नहीं है।

पोषण की दृष्टि से मांस अच्छा भोजन नहीं है

शरीर के पोषण की दृष्टि से भी मांस का भोजन कोई बहुत अच्छा भोजन नहीं है। मांस में शरीर के पोषण के लिये आवश्यक जो प्रोटीन (Protein) आदि पदार्थ पाये जाते हैं वे सब दूध और वनस्पतियों से प्राप्त होने वाले भोजन में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। मांस में कोई ऐसा पोषक तत्त्व नहीं है, जो दूध, फलों, सब्जियों और अनाजों में न पाया जाता हो। मांस में सब से अधिक पोषक-तत्त्व प्रोटीन नामक पदार्थ है। दूध में, दालों, मटरों और बादामों आदि में भी प्रोटीन बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है। मांस की अपेक्षा इन पदार्थों में प्रोटीन अधिक ही पाया जाता है। मांस में जो अन्य दोष हैं वे भी इन पदार्थों में नहीं होते। फिर, दूध, फलों, सब्जियों और अनाजों में

शरीर के पोषण के लिये आवश्यक कई पदार्थ ऐसे भी होते हैं जो मांस में नहीं होते। जब मांस में जो पोषक-तत्त्व हैं वे सब दूध, फलों, सब्ज़ियों और अनाजों में पाये जाते हैं और मांस में न पाये जाने वाले पोषक तत्त्व भी दूध आदि में मिलते हैं तो स्वतः ही मांस भोजन की दृष्टि से शाकाहार की अपेक्षा घटिया भोजन हो जाता है। हमें दूध और शाकाहार को छोड़ कर मांस का घटिया और अस्वाभाविक भोजन करने की क्या आवश्यकता है ?

विटामिनों की दृष्टि से भी मांस उत्तम भोजन नहीं है

जब से विटामिन (Vitamins) का सिद्धान्त निकला है तब से भोजन की दृष्टि से मांस की कीमत बिलकुल ही जाती रही है। मांस में विटामिन बहुत कम होते हैं। फिर मांस कच्चा तो खाया नहीं जाता। उसे खाने योग्य बनाने के लिये बहुत अधिक तलना और भूनना पड़ता है। इस तलने और भूनने में जो थोड़े-से विटामिन मांस में होते भी हैं वे भी जल कर नष्ट हो जाते हैं। गाय के दूध, दही और मक्खन में तथा फलों, सब्जियों और अनाजों में सब विटामिन पाये जाते हैं। अकेले गाय के दूध, दही और मक्खन में ही प्रायः सब-के-सब विटामिन पाये जाते हैं। दूध, सब्ज़ियों और अनाजों को उतना अधिक उबालने तलने और भूनने की आवश्यकता नहीं पड़ती जितना मांस को तलने और भूनने की आवश्यकता पड़ती है। इस लिये दूध, सब्ज़ियों और अनाजों के विटामिन नष्ट नहीं होने पाते या बहुत कम नष्ट हो पाते हैं। दूध, सब्ज़ियों और अनाजों को बहुत कम उबाल, तल और भून कर भी खाया जा सकता है जिस से इन में के विटामिनों के नष्ट हो जाने की संभावना बहुत ही कम रह जाती है। इन चीज़ों को कच्चा भी खाया-पीया जा सकता है। उस अवस्था में तो विटामिन नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। फलों को खाने में तो उन्हें अग्नि का स्पर्श कराने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इस प्रकार विटामिन के सिद्धान्त की दृष्टि से तो मांस का भोजन बिलकुल ही सार-हीन भोजन है। अतः हमें मांस को भोजन के रूप में खाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विटामिनों का मूल स्रोत वनस्पतियें ही हैं

विटामिन के प्रसंग से मांस-भक्षण के सम्बन्ध में यहां एक बात और विचारने की है। मांसाहारी लोग मांस खाने वाले कुत्ता, बिल्ली, भेड़िया, चीता और शेर आदि जानवरों का मांस नहीं खाते हैं। वे घास और वनस्पति खाने वाले भेड़, बकरी और गाय आदि पशुओं का मांस खाते हैं।

इन पशुओं के मांस में जो विटामिन होते हैं वे घास और वनस्पतियों से

आये होते हैं। इस लिये विटामिनों का मूल स्रोत वनस्पतियें हैं। तब हमें विटामिनों को प्राप्त करने के लिये सीधा वनस्पतियों से प्राप्त होने वाला अनाज, सब्ज़ी और फलों आदि का भोजन न कर के मांस का भोजन करने की क्या आवश्यकता है ? जहां से विटामिन बकरी आदि के मांस में आते हैं उन वनस्पतियों से ही हम सीधा क्यों न विटामिन प्राप्त करें ? एक बात और है, यदि मांस का भोजन बहुत बढ़िया भोजन होता है तो मांस खाने वाले कुत्ता, बिल्ली, चीता और शेर आदि जानवरों का मांस तो और भी अच्छा होना चाहिये। क्योंकि वह मांस तो वनस्पति से तैयार न हो कर सीधा मांस से तैयार हुआ है। पर मांसाहारी जानवरों का मांस अच्छा भोजन नहीं समझा जाता और उसे मांसाहारी लोग नहीं खाते। इस से प्रतीत होता है कि वनस्पति खाने वाले प्राणी का शरीर अच्छा बनता है। तब हमें भी अपना शरीर अच्छा बनाने के लिये वनस्पतियों से प्राप्त होने वाला भोजन करना चाहिये। मांस नहीं खाना चाहिये।

मनुष्य का मांस क्यों नहीं खाते ?

जो लोग मांस के भोजन को श्रेष्ठ भोजन मानते हैं उन्हें पशुओं का मांस न खा कर मनुष्य का मांस खाना चाहिये। क्योंकि मनुष्य का मांस तो हमारे शरीर के साथ बिलकुल मिलता है। वह हमारे शरीर के लिये अधिक अनुकूल रहेगा। पर मांसाहारी लोग मनुष्य का मांस नहीं खाते। वे मनुष्य का मांस क्या इस लिये नहीं खाते कि मनुष्य बोल सकता है, प्रतिवाद कर सकता है और बदला ले सकता है ? और पशुओं का मांस इस लिये खाते हैं कि वे बेचारे बोल नहीं सकते, प्रतिवाद नहीं कर सकते और बदला नहीं ले सकते ?

मांस प्राणियों पर भीषण क्रूरता से प्राप्त होता है

उन की इस बेबसी के कारण ही क्या हम उन गरीब प्राणियों पर इतना भयङ्कर अत्याचार करते हैं ? जब किसी बेचारी मुर्गी को दबा कर उस की गर्दन काटी जा रही होती है उस समय वह जो कष्ट के मारे तड़फती है, उस समय वह जो दर्द भरी चीखें मारती है, उन्हें देख और सुन कर पत्थर का हृदय भी पिघल सकता है। वधशाला (Slaughter House) में बंधे हुए पशुओं में से जब एक-एक को लेकर गण्डासे के नीचे रखा जाता है और वह वेदना से विह्वल हो कर छटपटाता, बिलबिलाता और चीत्कार करता है, उसे कटता, छटपटाता, बिलबिलाता, चीत्कार करता और उस का रुधिर बहता देख कर दूसरे बंधे हुये पशुओं में भय के मारे जो कंपकंपी उठ खड़ी होती है

और भय से उन का जो टट्टी, पेशाब निकलने लगता है और अपनी भी मौत सिर पर खड़ी देख कर वे भी जो चीखने और चिंघाड़ने लगते हैं, उस सब बीभत्स, भयानक और करुणा-जनक दृश्य को देख कर पाषाण-दिल भी द्रवित हो सकता है। परन्तु मांसाहारियों का दिल गरीब, बेज़बान और निरीह पशुओं की यह करुण दशा देख और सुन कर भी नहीं पिघलता। उन का हृदय पत्थर से भी कठोर बना रहता है। पशुओं पर ऐसी नृशंसता और क्रूरता कर के प्राप्त होने वाला मांस का भोजन पता नहीं उन के गले से नीचे कैसे उतर जाता है। मनुष्यता का तकाज़ा है कि जो मांस हमारा स्वाभाविक भोजन भी नहीं है, जो शरीर के पोषण की दृष्टि से भी कोई विशेष अच्छा भोजन नहीं है, और जो पशु और पक्षियों पर नृशंस क्रूरता कर के उन के प्राण ले कर प्राप्त होता है, उस मांस का हम सर्वथा बहिष्कार कर दें और पूर्ण रीति से शाकाहारी रहें। ऐसा करने से संसार-भर के गरीब पशु और पक्षी मन-मन में हमारा धन्यवाद करेंगे। और हमारे प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करेंगे। अस्तु। आगे चलिये।

मांस का भोजन विषैला और रोगजनक होता है

मांस का भोजन ज़हरीला भोजन होता है। प्राणियों के जीते रहने और काम करते रहने की प्रक्रिया में उन के शरीर का रक्त खर्च हो कर मैला, दूषित और काला होता रहता है। यह दूषित हो कर काला बन गया रक्त बिलकुल विषैला बन जाता है। इस के साथ ही प्राणियों के जीते रहने और काम करते रहने की प्रक्रिया में उन के अंग-प्रत्यंग की मांस-पेशियों में भी टूट-फूट (Wear and Tear) चलती रहती है। इस टूट-फूट के कारण शरीर के एक-एक अवयव और अंश में विषैला मादा (Poisonous Matter) एकत्र होता रहता है। शरीर के अंग-प्रत्यंग में बह रहा रुधिर उस विषैले मादे को धो कर अपने में मिला कर स्वयं विषैला हो कर शुद्ध होने के लिये हृदय और फेफड़ों में वापिस आता है। वहां सांस के द्वारा ली गई शुद्ध हवा (Oxygen) रुधिर की गन्दगी को जला कर उसे फिर से ताज़ा और लाल कर देती है। और वह गन्दगी सांस की गन्दी हवा (Carbon Dioxside gas) के रूप में बाहर निकल जाती है। हृदय और फेफड़ों में शुद्ध हुआ रक्त पुनः शरीर के अंग-प्रत्यंग को पोषण देने के लिये और वहां की गन्दगी को धोने के लिये भेज दिया जाता है। शरीर की नीली नसों में यह गन्दा और विषैला रक्त बह रहा होता है और लाल नाड़ियों में शुद्ध रक्त बह रहा होता है। शरीर के अंग-प्रत्यंग में प्रति क्षण यह विषैला मादा इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न हो

रहा होता है कि रक्त के हृदय और फेफड़ों में जाकर शुद्ध होते रहने की यह प्रक्रिया कुछ मिनटों के लिये भी रुक जाये तो प्राणी की मृत्यु हो जायेगी। प्रतिक्षण शरीर के अंग-अंग और अणु-अणु में यह विषैला मादा उत्पन्न हो कर एकत्र हो रहा होता है। जब किसी पशु को या पक्षी को मारा जाता है तो उस क्षण में उस के अंग-प्रत्यंग में जहां जो विषैला मादा था वह वहीं रह जाता है। मांस के भोजन में पशु के शरीर का वह विषैला अंश भी हमारे शरीर में जाता है।

इस विषैले अंश के हमारे शरीर में प्रवेश करने से हमें कई प्रकार के रोग हो जाने की आशङ्का रहती है। मुर्गियें लोगों के थूक और बलगम को भी खा जाती हैं। कई लोगों के थूक और बलगम में क्षय-रोग के कीटाणु भी होते हैं। उस के खाने से क्षय के कीटाणु मुर्गी के शरीर में भी चले जाते हैं। और वहां से मुर्गी के मांस को खाने के द्वारा वे क्षय के कीटाणु मनुष्य के शरीर में पहुंच जाते हैं। अनेक बार कई लोगों को इस प्रकार क्षय रोग होते देखा गया है। प्राणी के शरीर का विषैला अंश तो मांस के भक्षण से हमारे शरीर में जाता ही है। और उस से अनेक रोग[१] हो जाने की आशंका रहती है। जैसा ऊपर कहा गया है, मांस में विटामिन तो प्रायः रहते ही नहीं, पोषक तत्त्व भी उस में कम होते हैं, यदि कुछ पोषक तत्त्व होते भी हैं तो उन के साथ उपर्युक्त प्रकार से पशु के शरीर का जहरीला अंश भी मांस के साथ हमारे शरीर में जाता है। इस प्रकार भोजन की दृष्टि से मांस की कुछ भी कीमत नहीं रह जाती। प्रत्युत वह भोजन की दृष्टि से सर्वथा त्याज्य हो जाता है।

मांस का भोजन कोष्ठ-बद्धता या कब्ज़ (Constipation) पैदा करता है। इसी लिये मांस खाने वालों को सलाद और पालक आदि हरी सब्जियें

---

१. मांस खाने से जो अनेक प्रकार की बीमारियें हो जाया करती हैं उन में से कुछ के नाम ये हैं—(१) टेप वर्म (Tape Worm) या पेट में पड़ जाने वाले लम्बे-लम्बे कीड़े जो रस्सी की भांति होते हैं। (२) घातक ट्रिचिनाइ (Deadly Trichinae)। (३) क्षय रोग (Tuburculosis)। (४) टाइफाइड बुखार (Typhoid) जो शैलफिश (Shellfish) नामक मछली के खाने से प्रायः हो जाता है। (५) हौग कालरा (हैजा) (Hog Cholera) जो कि सूअर की चर्बी के सेवन से प्रायः हो जाता हैं। (६) दांतों के पायोरिया आदि रोग। (७) गठिया। (८) किडनियों की बीमारियें (Kidney Disease)। (९) कैंसर नामक फोड़ा (Cancer)। (१०) मृगी (Epilepsy।

The Living Temple by J. H. Kellogg, page 172.)

खानी पड़ती हैं, जिस से कब्ज का कुछ उपाय हो जाये। हम सभी जानते हैं कि मनुष्य की सारी बीमारियों की जड़ कोष्ठ की शुद्धि न होना अथवा कब्ज़ रहना होती है। मांस खाने से होने वाली कब्ज़ के कारण तथा मांस के विषैले मादे के कारण हमें कई प्रकार की बीमारियें लग जाने का डर रहता है। कैंसर (Cancer) नामक भयानक फोड़ा मांस खाने वालों को जितना निकलता है उतना शाकाहारियों को नहीं निकलता। कब्ज़ का कारण होने के कारण भी मांस का भोजन की दृष्टि से स्थान बहुत नीचा हो जाता है। वह हमारे लिये उपयोगी न हो कर हानिकारक हो जाता है। इस लिये मांस का भोजन सर्वथा त्याज्य हो जाता है।

४

मांसाहार से बल नहीं आता

लोगों का विचार है कि मांस खाने से शरीर का बल बढ़ता है। यह विचार भी भ्रान्त है। अभी ऊपर की पंक्तियों में हम ने देखा है कि अनेक दृष्टियों से मांस शरीर के पोषण के लिये अच्छा भोजन नहीं है। बल्कि कई अंशो में हानिकारक है। ऐसी स्थिति में मांस शरीर के बल को बढ़ाने वाला कैसे हो सकता है? निश्चय ही दूध और शाकाहार की तुलना में मांस अधिक बलकारक नहीं है। जब चाहें परीक्षण कर के यह देखा जा सकता है। एक उमर के और एक जैसी शारीरिक शक्ति वाले दो बालक ले लीजिये। एक को कुछ महीने निरन्तर केवल मांस ही खाने को दीजिये। मांस के अतिरिक्त उसे कोई चीज़ खाने को न दीजिये। और दूसरे बालक को दूध, मक्खन, मलाई, दही, फल, सब्ज़ी, रोटी, दाल और गन्ने आदि का शाकाहार का भोजन खाने को दीजिये। कुछ मास तक दोनों बालकों को इस प्रकार का भोजन देते रहने के पश्चात् आप देखेंगे कि मांस का भोजन करने वाला बालक शाकाहारी बालक की तुलना में कहीं दुर्बल होगा, उस की बुद्धि भी कुण्ठित हो जायेगी और संभवतः उसे कई रोग भी लग जायेंगे। यदि मांस अपने आप में अकेला अन्य भोजनों की अपेक्षा अधिक बल देने वाला भोजन होता तो मांसाहारियों को मांस के सिवा और कुछ खाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये थी। सब मांसाहारी लोग मांस के साथ शाकाहार की चीजें भी खाते हैं। बल वस्तुतः शाकाहार की चीज़ों से आता है। भ्रान्ति से समझा जाता है कि बल मांस से आता है। यदि मांस कुछ बल देता भी है तो भी उस में दूध, दही, मक्खन, फल, सब्ज़ी और बादाम आदि शाकाहार की वस्तुओं की अपेक्षा अधिक बल

देने का सामर्थ्य नहीं है। शाकाहार की इन चीजों में बहुत अधिक बल देने का सामर्थ्य है। फिर, लोहा, चांदी और सोना आदि की भस्मों से बने हुए रसायनों में तो बल बढ़ाने की बेहद शक्ति है। जो बहुत ही बल चाहता है वह शाकाहार की इन चीज़ों के साथ-साथ इन रसायनों का भी सेवन कर सकता है। केवल बल प्राप्ति के विचार से भी हमें मांस के भोजन की आवश्यकता नहीं है।

पशुओं में भी हम देखते हैं कि घास खाने वाले बैल, घोड़ा, भैंसा, गैंडा और हाथी आदि जानवरों में जितना शारीरिक बल होता है उतना शारीरिक बल मांस खाने वाले भेड़िया, चीता और शेर आदि जानवरों में नहीं होता। मांसाहारी जानवरों के पंजे तेज़ होते हैं और उन के दांत तीखे होते हैं तथा उन में एक खूंखारपना और एक-दम झपट्टा मारने का गुण होता है। इस कारण उन के आक्रमण से घास खाने वाले जानवर घबरा जाते और भय-भीत हो जाते हैं। यों शरीर का बल मांसाहारी जानवरों में घास खाने वाले जानवरों से अधिक नहीं होता। घास खाने वाले जानवर जितना भार उठा सकते हैं और जितनी देर तक बिना थके हुए काम कर सकते हैं मांसाहारी जानवर उतना भार नहीं उठा सकते और उतनी देर तक काम नहीं कर सकते। घास खाने वाले जानवरों में गरमी-सरदी को सहने की जितनी शक्ति होती है मांसाहारी जानवरों में गरमी-सरदी सहने की उतनी शक्ति नहीं होती। बैल, घोड़ा और हाथी जितना भार खींच सकते हैं और जीतनी देर तक कड़कती धूप में काम कर सकते हैं उस की तुलना में शेर कुछ भी भार नहीं खींच सकता और कुछ भी देर धूप में काम नहीं कर सकता। शुद्ध बल की दृष्टि से घास खाने वाले पशुओं के शरीर में मांसाहारी पशुओं के शरीर की अपेक्षा अधिक बल होता है। मांस का भोजन शाकाहार की अपेक्षा अधिक बल पैदा करने वाला भोजन नहीं है।

मांसाहार से वीरता भी नहीं आती

कुछ लोगों का विचार है कि मांस-भक्षण मनुष्य को वीर और बहादुर बनाता है। यह विचार तो बिलकुल ही मिथ्या है। भोजन का वीरता और बहादुरी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। भोजन का शरीर के बल के साथ तो सम्बन्ध है। पर वीरता और बहादुरी के साथ भोजन का कोई सम्बन्ध नहीं है। न मांसाहार के भोजन से वीरता और बहादुरी आती है और न शाकाहार के भोजन से। वीरता और बहादुरी का सम्बन्ध तो मन से है—विचारों से है। जिसे घर-बार, धन-दौलत और स्त्री-पुत्रों का मोह नहीं है, जो अपने प्राणों

की बाजी लगाने को तैयार रहता है, जो अपनी गर्दन हथेली पर लिये फिरता है, जो मृत्यु का आलिङ्गन करने के लिये हर समय उद्यत रहता है, जो मरने से नहीं डरता है, वह वीर और बहादुर होता है। वीरता और बहादुरी मन की साधना और शिक्षा से आती हैं। भोजन से वीरता नहीं आती। शाकाहार करने वाले लोग भी वीर और बहादुर देखे जाते हैं और मांस खाने वाले लोग भी डरपोक और कायर देखे जाते हैं। मांसाहारी और शाकाहारी दोनों ही प्रकार के लोगों में वीर, बहादुर तथा डरपोक और कायर लोग मिलेंगे। स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा गान्धी से बढ़ कर वीर और बहादुर व्यक्ति संसार के इतिहास में कहाँ मिलेंगे ? दिल्ली के चाँदनी चौक में स्वामी श्रद्धानन्द ने गोरों और गोरखों की संगीनों और बन्दूकों के आगे निडर हो कर अपनी छाती खोल दी थी। महात्मा गान्धी शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से भी नहीं डरते थे। ऋषि दयानन्द से वीर और बहादुर पुरुष कौन होगा ? जो दुनियां के दो अरब लोगों के मुकाबले में अकेला खड़ा हो कर निर्भीक भाव से उन के अन्ध-विश्वासों का खण्डन करता रहा, जिसे दर्जन से अधिक बार ज़हर दिया गया और तलवारें दिखाई गई, जो फिर भी नहीं डरा और सत्य-धर्म के प्रचार तथा अन्धविश्वासों के खण्डन से नहीं रुका ? ये सब लोग पक्के शकाहारी थे---स्वप्न में भी मांस के पास नहीं फटकते थे। हरियाना प्रान्त के हिन्दू जाट कट्टर शाकाहारी होते हैं। पर वे भारत की सब से अधिक वीर और लड़ाकी जातियों में से हैं। किसी मांसाहारी जाति की तुलना में उन में वीरता और बहादुरी कम नहीं है। भोजन से वीरता का सम्बन्ध नहीं है। भोजन के द्वारा शरीर में पैदा होने वाले बल से भी वीरता का सम्बन्ध नहीं है। बड़े-बड़े बलवान् पहलवान डरपोक देखे गये हैं। और शारीरिक बल की दृष्टि से दुर्बल व्यक्ति भी बड़े वीर देखे जाते हैं। शारीरिक बल की दृष्टि से महात्मा गान्धी में कुछ भी शक्ति नहीं थी। पर उन की वीरता और बहादुरी की तुलना विश्व में कौन कर सकता था ? शारीरिक दृष्टि से बलवान् व्यक्ति वीर भी हो सकता है और कायर भी। इसी प्रकार शारीरिक दृष्टि से निर्बल व्यक्ति भी कायर भी हो सकता है और वीर भी। वीरता शरीर और उस के बल से सम्बन्ध नहीं रखती। वह तो मन से सम्बन्ध रखती है। जिस का मन वीर है वह वीर होता है। शारीरिक बल का तो इतना ही लाभ है कि यदि वीर व्यक्ति बलवान् होगा तो काम अधिक कर सकेगा। इस प्रकार वीर और बहादुर बनने के लिये भी मांस खाने की आवश्यकता नहीं है। वीर बनने के लिये तो अपने विचारों को उन्नत कर के अपने मन को वीर बनाना चाहिये।

मांस का भोजन मनुष्य को क्रूर और निर्दय बनाता है

मांस का भोजन क्योंकि प्राणियों पर क्रूरता और निर्दयता कर के प्राप्त होता है इस लिये वह खाने वालों के मन में क्रूरता और निर्दयता के भाव तो पैदा कर सकता है––उन्हें जंगल के हिंस्र जानवरों की भांति खूंखार और नृशंस तो बना सकता है––परन्तु उन में वीरता के भाव नहीं पैदा कर सकता। संसार-भर के मनोवैज्ञानिक विचारकों ने वीरता के सम्बन्ध में जो विचार किया है वह बताता है कि वीरता के विचार में क्रूरता, नृशंसता और निर्दयता के विचार समाविष्ट नहीं रहते। वीरता के विचार में निर्भय हो कर सत्य और न्याय पर डटे रहना, अत्याचारी के आगे न झुकना, निर्बलों पर दया करना और उन की रक्षा करना, शान्त और क्रोध रहित रहना, मृत्यु से न डरना आदि विचार समाविष्ट रहते हैं। जिस व्यक्ति में ये गुण होते हैं वह वीर कहलाता है। क्रूरता, नृशंसता, निर्दयता और खूंखारपना जिस में होते हैं वह वीर नहीं होता वह तो जंगली हिंस्र जानवर होता है, दस्यु और राक्षस होता है। आर्य-शास्त्रों में क्षमा और दया वीर के भूषण[1] माने गये हैं।

मांस का भोजन तामसिक वृत्तियों को जगाता है

आर्य-शास्त्रों की विचार शैली के अनुसार मांस तामसिक भोजन है। मांस का भोजन उसे खाने वाले के मन में तामसिक वृत्तियें उत्पन्न करता है। विचार-शक्ति की कमी, विषयों में आसक्ति, लोभ, आलस्य और निद्रा, अधीरता और जल्दी घबरा जाना, क्रूरता, नास्तिकता, मन में एकाग्रता का अभाव, मांगने की आदत और प्रमाद आदि की वृत्तियें तामसिक[2] वृत्तियें हैं। मांस खाने वालों में प्रायः इस प्रकार की तामसिक वृत्तियें पैदा हो जाया करती हैं। यह प्रायः देखा गया है कि मांस खाने वालों को शराब पीने की आदत भी पड़ जाती है। मांस खाने और शराब पीने वालों में संयम की कमी और विषयासक्ति की अधिकता भी प्रायः देखी जाती है। अन्य तामसिक दुर्गुण भी उन में प्रायः आ जाते हैं। उन की वृत्ति सात्त्विक और आध्यात्मिक नहीं रहती। प्रभु के गुणचिन्तन और उपासना में उन का मन नहीं लगता। प्रभु की उपासना में बैठने से भगवान् को प्राणिमात्र का पिता समझ कर और उस के श्रेष्ठ गुणों का

---

१. क्षमा वीरस्य भूषणम्।

२. यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्॥ मनु. १२. २९।
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्॥ मनु. १२. ३३।

चिन्तन कर के मनुष्य में जो प्राणिमात्र के प्रति प्रेम की भावना और श्रेष्ठ गुणों की उत्पत्ति होती है वह मांस खाने और शराब पीने वालों में नहीं हो पाती। वे आत्म-शुद्धि के पवित्र मार्ग पर चलने में असमर्थ रहते हैं। उन में आर्य (श्रेष्ठ) चरित्र के आवश्यक अङ्ग शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन पांच नियमों तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच यमों[1] के पालन की प्रवृत्ति नहीं रहती। मांस का तामसिक भोजन करने से उन में पशुओं के से काम, क्रोध, लोभ और तज्जन्य निर्दयता, क्रूरता और नृशंसता आदि के दुर्गुण पैदा हो जाते हैं। जिस में जितना अधिक मांस के सेवन करने की आदत होगी उस में उतना ही अधिक उपर्युक्त तामसिक प्रवृत्तियें जागृत होंगी। मांस का भोजन मनुष्य को सात्त्विक मनुष्यता से गिरा कर तामसिक पाशविकता की ओर ले जाता है इस लिये भी मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये।

५

मांस-भक्षण विश्व-शान्ति की विरोधी भावनायें पैदा करता है

एक और दृष्टि से भी मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये। सभी धर्म, सभी शास्त्र और सभी विचारक यह उपदेश करते हैं कि मनुष्यों को परस्पर प्रेम और सहानुभूति से मिल कर रहना चाहिये। किसी को किसी के अधिकारों को हड़पना नहीं चाहिये। किसी को किसी पर अत्याचार नहीं करना चाहिये। किसी को किसी पर ज़बरदस्ती अपने विचार नहीं थोपने चाहियें। सब बातें शान्ति से बैठ कर प्रेम और सहानुभूति के साथ परस्पर विचार-विमर्श द्वारा सुलझानी चाहियें। बल का प्रयोग नहीं करना चाहिये। लड़ाई-झगड़े और खून-खराबी नहीं करनी चाहिये। ऐसा न करने से सब को दुःखी, क्लेशित, पीड़ित और अशान्त रहना पड़ता है।

जिस प्रकार व्यक्तियों को परस्पर प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिये उसी प्रकार धरती के सब राष्ट्रों को भी आपस में प्रेम और सहानुभूति से रहना चाहिये। किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के साथ अन्याय नहीं करना चाहिये। किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर दबाव नहीं डालना चाहिये। किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता को छीन कर उसे अपना गुलाम नहीं

---

१. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योग. २. ३२।

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। योग. २. ३०।

यम-नियमों की संक्षिप्त व्याख्या इसी पुस्तक के "वैदिक समाज-व्यवस्था" प्रकरण में पृष्ठ ६८—७२ पर देखिये।

बनाना चाहिये। किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्ताक्षेप नहीं करना चाहिये। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के हस्ताक्षेप के भय से निर्मुक्त हो कर स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी संस्कृति और अपनी परम्पराओं के अनुसार अपना विकास करे। राष्ट्रों को भी आपसी झगड़े सुलझाने के लिये युद्ध का सहारा नहीं लेना चाहिये। उन्हें भी अपने विवाद शान्ति से बैठ कर प्रेम और सहानुभूति के साथ विचार-विमर्श के द्वारा ही निपटाने चाहियें। युद्ध से जो कष्ट और क्लेश, जो मुसीबतें और यन्त्रणायें मनुष्य-समाज को भुगतनी पड़ती हैं वे इतनी भयावह हैं कि राष्ट्रों को कभी भी युद्ध की राह पर नहीं चलना चाहिये। युद्ध का मार्ग कभी भी उचित नहीं होता। पर आज के अणु-बम और उद्रजन-बम के ज़माने में तो युद्ध का नाम भी नहीं लेना चाहिये। ये अस्त्र इतने भीषण हैं कि इन के द्वारा लड़े जाने वाला युद्ध धरती पर प्रलय मचा देगा—स्वयं मनुष्य-जाति का ही उच्छेद कर देगा। इस लिये आपसी कलह, विद्वेष, ईर्ष्या और लड़ाई-झगड़े की वृत्तियों को छोड़ कर सभी राष्ट्रों के लोगों को आपस में भाई-भाई की तरह प्रेम से रहना चाहिये।

यह जो शान्ति और प्रेम से रहने का उपदेश संसार-भर के धर्म और विचारक देते हैं उस के अनुसार व्यक्ति और राष्ट्र तब तक अपना जीवन नहीं बिता सकते जब तक लोगों में अहिंसा (Non-violence) की वृत्ति घर न कर ले। मांस-भक्षण मनुष्य के अन्दर अहिंसा की वृत्ति को पैदा होने, बढ़ने और बद्धमूल होने में रुकावट डालता है। जो व्यक्ति गरीब और निरीह पशु-पक्षियों पर नृशंसता और क्रूरता कर के उन के प्राण ले कर उन के मांस का भोजन करता है उस हिंसक-वृत्ति वाले व्यक्ति में अहिंसा की वृत्ति भला कहां घर कर सकती है ? उस के लिये हिंसा की वृत्ति को दबा कर उस के स्थान में अहिंसा की वृत्ति जगा सकना आसान नहीं है। उस में तो हिंसा की वृत्ति रहेगी ही। यदि कभी धर्म-शास्त्रों के और दूसरे ऊंचे विचारकों के उपदेशों को सुन कर उस में अहिंसा की वृत्ति जागेगी भी तो वह क्षणिक होगी। चिरस्थायी नहीं होगी। पूर्ण मात्रा में प्रतिष्ठित, चिरस्थायी और जीवन-व्यापी अहिंसा की वृत्ति रहे बिना व्यक्ति सब अवस्थाओं में शान्ति, प्रेम और सहानुभूति का परिचय नहीं दे सकता। जो एक क्षेत्र में क्रूरता, नृशंसता, निर्दयता और हिंसा का कार्य कर सकता है वह दूसरे क्षेत्र में भी समय पड़ने पर वैसा ही कर सकता है। यदि हम मनुष्य-समाज का निर्माण शान्ति, प्रेम और सहानुभूति के तत्त्वों के आधार पर करना चाहते हैं तो हमें उन सब कारणों को दूर करना होगा जो हमारे अन्दर हिंसा की वृत्ति को पैदा करते हैं। हमारे अन्दर हिंसा की वृत्ति

को पैदा करने वाले कारणों में से मांस-भक्षण एक बहुत बड़ा कारण है। इस लिये मांस-भक्षण का, जो कि हिंसा-मूलक है, हमें सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

जो व्यक्ति पशु-पक्षियों के प्रति भी हिंसा नहीं करता--उन के प्रति भी करुणा और दया की वृत्ति रखता है--उस व्यक्ति से तो यह आशा की जा सकती है कि वह आपस में मनुष्यों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार में हिंसा की वृत्ति का परिचय नहीं देगा--उन के प्रति भी करुणा, दया, प्रेम और सहानुभूति की अहिंसा की वृत्ति का परिचय देगा। पशु-हिंसक व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती।

यदि हम धरती पर पूर्ण शान्ति, प्रेम और सहानुभूति का साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं तो हमें लोगों को अहिंसा के सार्वभौम महाव्रत का पालन करने वाला बनाना होगा। उस के लिये हमें मांस-भक्षण और तन्मूलक प्राणियों की हत्या को सर्वथा बन्द करना होगा। और मनुष्यों को प्राणिमात्र पर दया करने का पाठ पढ़ाना होगा। इस दृष्टि से वैदिक धर्मियों का अहिंसा और तन्मूलक मांस-भक्षण के निषेध का सिद्धान्त बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

मांस-भक्षण सभी धर्मों की भावना के विपरीत है

यहां यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि प्राणिमात्र पर दया करने का उपदेश सभी धर्मों में दिया जाता है। प्राणिमात्र के साथ दया का बरताव करने के इस उपदेश का यह सीधा और स्पष्ट परिणाम निकलता है कि हमें किसी भी प्राणी का मांस नहीं खाना चाहिये। क्योंकि मांस खाने से प्राणियों पर दया करने के सिद्धान्त की हानि होती है। किसी प्राणी का मांस उस पर दया कर के नहीं प्राप्त किया जाता प्रत्युत उस पर क्रूरता और निर्दयता कर के उस के प्राण ले कर प्राप्त किया जाता है। कई धर्मों में जो विशेष अवसरों पर, और विशेष प्रकार से मारे हुए पशुओं का, मांस खाने का विधान है वह भी उन के प्राणिमात्र पर दया करने के उपदेश से मेल नहीं खाता। किसी भी अवस्था में मांस खाने का विधान करना भूल की बात है। जब कोई व्यक्ति किसी प्राणी का मांस खाता है तो वह अपने धर्म के प्राणिमात्र पर दया करने के उपदेश का भंग करता है और दोष का भागी बनता है। अतः जो व्यक्ति किसी धर्म को मानता है उसे तो मांस-भक्षण कभी नहीं करना चाहिये। धर्म की वास्तविक भावना तो प्राणिमात्र को परमात्मा की संतान समझ कर उन्हें अपना भाई समझते हुए मनुष्य को प्राणिमात्र पर दया करने वाला और प्राणिमात्र की सहायता करने वाला बनाना है। मांस-भक्षण धर्म की इस

वास्तविक भावना का विरोधी है। अतः मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये।

मांस-भक्षण सभी दृष्टियों से त्याज्य है

इस प्रकार जो मांस हिंसा कर के प्राप्त होता है और इसी लिये वैदिकधर्म-शास्त्रों की दृष्टि में जो सब से बड़ा पाप है, जो भोजन की दृष्टि से भी अनावश्यक, हानिकारक और दूषित है, जो मन को तामसिक और निकृष्ट बना कर मनुष्य को सात्त्विक मानवता से गिरा कर तामस पशुता की ओर ले जाता है, और जो धर्म की वास्तविक भावना के विपरीत हैं, उस मांस का भक्षण मनुष्य को किसी अवस्था में भी नहीं करना चाहिये।

६

औषध के रूप में भी मांस नहीं खाना चाहिये

इस सम्बन्ध में लोग कई प्रकार की शंकायें किया करते हैं। उन के निराकरण में भी कुछ शब्द यहां कह देना आवश्यक प्रतीत होता है।

कई लोग पूछा करते हैं कि माना कि साधारण तौर पर तो मांस नहीं खाना चाहिये, पर रोगी होने की अवस्था में जब कि वैद्य और डाक्टर लोग कहें कि मांस का सेवन किये बिना रोग अच्छा ही नहीं हो सकता तब भी क्या मांस नहीं खाना चाहिये ? हमारा निवेदन है कि तब भी हमें मांस नहीं खाना चाहिये। कोई रोग ऐसा नहीं है जो ऐसी ओषधियों से जिन में मांस नहीं पड़ता और ऐसे पथ्योपचार से जिस में मांस का भोजन नहीं रहता, अच्छा नहीं हो सकता। मांस के बिना भी सब रोगों का इलाज हो सकता है। जो वैद्य-डाक्टर कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता वे ग़लत कहते हैं।

फिर एक बात और सोचने की है। क्या जो लोग और जो जातियें मांस खाती हैं उन में कभी कोई रोग होता ही नहीं ? उन में भी तो सदा और सब तरह के रोग होते रहते हैं। तब मांस रोगों का इलाज तो न हुआ।

वैदिकधर्म की दृष्टि से तो, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, मांस खाना सब से बड़ा पाप है। अतः हमें अपना रोग अच्छा करने की नीयत से भी मांस खाने का पाप नहीं करना चाहिये। हमें अपना रोग शान्त करने के लिये दूसरे प्राणी के प्राण लेनें का क्या अधिकार है ? हमें अपने प्राण बचाने के लिये भी मांस खाने का पाप नहीं करना चाहिये। हमें अपने प्राण बचाने के लिये दूसरे प्राणी के प्राण लेने का कोई अधिकार नहीं है ? क्या हम कभी अपना रोग शान्त करने और अपने प्राण बचाने के लिये किसी दूसरे मनुष्य के प्राण

ले कर उस का मांस खाने की बात सोचेंगे ? हम ऐसा हरगिज़ नहीं करेंगे। जैसे मनुष्य को अपने प्राण प्यारे हैं वैसे ही पशु-पक्षियों को अपने प्राण प्यारे हैं। हमें अपने प्राणों की रक्षा के लिये उन के प्राण नहीं लेने चाहियें।

आर्यसमाज के आदिकाल के महान् नेता और सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित गुरुदत्त एम. ए. को दिन-रात अत्यधिक काम करने के कारण क्षय-रोग हो गया था। नासमझ डाक्टरों ने उन्हें भी सलाह दी कि मांस का सेवन कीजिये, आप का रोग अच्छा हो जायेगा। आप मांस नहीं खायेंगे तो बचेंगे नहीं। पण्डित जी ने डाक्टरों से पूछा कि मांस का सेवन कर के मैं अच्छा हो गया तो क्या फिर मैं कभी नहीं मरूंगा ? मैं क्या अमर हो जाऊंगा ? तुम लोग क्या यह गारंटी (विश्वास) दिलाते हो ? डाक्टरों ने कहा कि यह गारंटी तो नहीं दिलाई जा सकती। तब पण्डित जी ने पूछा कि अच्छा, अमरता की बात रहने दो, क्या फिर दूसरी वार मुझे क्षय रोग नहीं हो सकेगा यह गारंटी तुम मुझे देते हो ? क्या जिन जातियों में मांस खाया जाता है वहां क्षय-रोग नहीं होता ? डाक्टरों ने कहा कि यह गारंटी भी हम नहीं दे सकते कि आप को पुनःक्षय रोग नहीं होगा और यह भी ठीक है कि मांस खाने वाले लोग भी क्षय के रोगी होते रहते हैं। तब पण्डित जी ने कहा कि मेरे वैदिकधर्म में मांस खाना सब से बड़ा पाप माना गया है। मैं मांस खा कर अपने धर्म की दृष्टि में सब से बड़ा पाप भी करूं और मुझे अमरता की अथवा पुनः क्षय का रोगी न होने की गारंटी भी न मिले तो मैं मांस खाने का पाप करने के लिये तैयार नहीं हूं। इस विश्व का यह नियम है कि यहां जो पैदा हुआ है उस ने अवश्य मर जाना है। इस सृष्टि के आदि से यह चक्र चला आ रहा है। पूर्व की सृष्टियों में भी यह चक्र चलता रहा है। इस अनादि और अनन्त सृष्टि-चक्र में जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरा है। इस समय भी आप और मैं जो जीवित हैं उन्हें भी एक दिन अवश्य मर जाना है। कोई दो-चार साल पहले चला जायेगा और कोई दो-चार साल पीछे। जाना सब ने अवश्य है। जब मरना सब ने अवश्य है तो इस विश्व के अनादि और अनन्त काल-चक्र में यह बात कौन-सा बड़ा महत्त्व रखती है कि कोई व्यक्ति दो-चार साल पहले मर जाता है या दो-चार साल पीछे मरता है[१]। मैं मांस नहीं खाऊंगा। मुझे मर जाना है तो भले ही मर जाने दो। पण्डित गुरुदत्त मर गये पर उन्होंने मांस नहीं खाया। उन्होंने अपने प्राण बचाने के लिये दूसरे प्राणी के

१. What does it matter, whether one dies a few years earlier or a few years later, when one is ultimately sure to die ?

प्राणों को लेना स्वीकार नहीं किया। वैदिकधर्मियों का तो यह आदर्श है। रोग की अवस्था में डाक्टरों और वैद्यों के कहने पर भी मांस खाने का पाप नहीं करना चाहिये।

ध्रुव-प्रदेशों के लोगों को भी मांस खाने की आवश्यकता नहीं है

कुछ लोग यह शङ्का किया करते हैं कि जो लोग ध्रुव-देशों में रहते हैं वे क्या करें ? वहां तो बर्फ ही बर्फ होती है। वहां कोई खेती नहीं हो सकती। वहां रहने वालों को तो उन प्रदेशों में पाये जाने वाले एक प्रकार के जानवर जिन्हें वालूस और रेनडीयर कहा जाता है तथा आस-पास के समुद्रों में पाई जाने वाली मछलियें ही खानी पड़ती हैं। वे लोग क्या करें ? उन्हें तो मांस खाना ही पड़ेगा ? ऐसा सोचने वाले लोग भी ठीक नहीं सोचते। पहले तो यह बात है कि मनुष्य कहीं भी रहने और न रहने में स्वतंत्र है। ध्रुव-देशों में रहने वाले लोग वहां जा कर बसे ही क्यों ? वे अब भी उन स्थानों को छोड़ कर दूसरे स्थानों में जा कर बस सकते हैं। फिर आज कल के वैज्ञानिक युग में तो **यह** प्रश्न उठना ही नहीं चाहिये। वैज्ञानिक साधनों से वहां भी खेती हो सकती है[1]। वहां का विशेष प्रकार का हरिण जिसे रेनडीयर कहते हैं घास खाने वाला प्राणी है। उसे बर्फ के नीचे दबी हुई छोटी-मोटी घास खाने को मिल ही जाती है। तब वहां भी वैज्ञानिक साधनों से खेती जैसे-तैसे हो ही सकती है। यह सब भी न सही। आज के वैज्ञानिक युग में जहाजों और वायुयानों द्वारा कहीं का अनाज कहीं भी पहुंचाया जा सकता है। ध्रुव-प्रदेश के लोगों तक भी सब प्रकार का अनाज पहुंच सकता है। वहां के लोग यदि मांस खाने को पाप समझ कर उस से बचना चाहें तो आज के वैज्ञानिक युग में उन के अनाज खाने की व्यवस्था हो सकती है।

भेड़-बकरी आदि को न खाने से उन से धरती नहीं भर जायेगी

एक शंका यह की जाती है कि यदि भेड़-बकरी आदि को खाया नहीं जायेगा तो वे इतने बढ़ जायेंगे कि उन से सारी धरती भर जायेगी और मनुष्यों को रहने की जगह ही नहीं मिलेगी। अतः इन पशुओं का खाया जाता रहना ही ठीक है। यह विचार भी ठीक नहीं है। कौवों को कोई नहीं खाता। उन से तो सारा आकाश आज तक नहीं भरा। कुत्ते और बिल्लियों को कोई नहीं

---

१. आज कल दक्षिणी ध्रुव के प्रदेशों की छान-बीन करने के लिये अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस आदि अनेक देशों के वैज्ञानिक वहां जा रहे हैं। समाचार-पत्रों में आया था कि वे लोग गमलों और सन्दूकों में रेत भर कर उस में रासायनिक पदार्थों का घोल डाल कर बिजली की गरमी से अपने खाने के लिये फल और सब्जी पैदा करेंगे।

खाता। उन से तो सारी धरती आज तक नहीं भरी। और भी कितने ही पशु और पक्षी ऐसे हैं जिन्हें कोई नहीं खाता। उन से तो आकाश और धरती नहीं भरे। प्रकृति और परमात्मा के अपने नियम हैं, उन के अनुसार प्राणी पैदा भी होते रहते हैं और मरते भी रहते हैं। हम किसी पशु-पक्षी को नहीं खायेंगे तो भी परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार वे मरते रहेंगे। आकाश और धरती के भरने का प्रश्न नहीं पैदा होगा। इस चिन्ता के मारे हमें मांस खाने का पाप नहीं करना चाहिये।

दूध पीने में हिंसा नहीं होती

कई लोग शंका किया करते हैं कि दूध भी तो पशुओं से प्राप्त होने वाला भोजन ही है, दूध भी पशुओं के खून से ही बनता है। दूध के पीने में भी हिंसा होगी। अतः वह भी नहीं पीना चाहिये। फिर वेद-शास्त्रों में, जो कि अहिंसा को धर्म मानते हैं, दूध पीने का विधान क्यों है?

यह शंका भी ठीक नहीं है। दूध पीने में हिंसा नहीं होती। दूध लेने के लिये पशु को पीड़ित नहीं करना पड़ता, उसे कष्ट नहीं दिया जाता, और उस के प्राण नहीं लिये जाते। हम पशु की सेवा करते हैं। उसे अच्छी तरह खिलाते-पिलाते हैं। उस की रक्षा करते हैं। उस की सेवा और रक्षा के बदले में हम उस से दूध ले लेते हैं। हम उसे अच्छी तरह खिला-पिला कर उस का दूध बढ़ा देते हैं जो कि उस के बछड़े की आवश्यकता से अधिक होता है। इस अधिक दूध को हम पशु को प्यार-पुचकार कर उस से ले लेते हैं। कुछ बड़ा होने पर उस के बछड़े को भी हम खाना देने लगते हैं। दूध लेने में किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती।

यह विचार भी ठीक नहीं है कि पशु के खून से दूध बनता है। घास आदि खाने से पशु के पेट में जो रस बनता है उस रस से सीधा दूध बन जाता है। दूध के काम जितना रस आता है उसे खून बनने की आवश्यकता नहीं होती। वह रस तो सीधा पशु के शरीर में स्थित दूध बनाने वाले यन्त्रों में जा कर दूध बन जाता है। यह नहीं होता है कि एक बीस सेर दूध देने वाली गाय में पहले बीस सेर रक्त बने। और फिर उस से दूध बने। यदि ऐसा हुआ करे तो रोज़ बीस सेर खून बढ़ने के कारण पहले तो गाय खूब मोटी हो जाया करे और फिर उस का दूध बनने से वह पतली हो जाया करे। हम ऐसा होते नहीं देखते। एक बात और है। किसी भी शरीरधारी के शरीर में हर समय उस के शरीर के भार का लगभग २० वां हिस्सा रक्त रहा करता है। गाय में इतना रक्त तो हर समय रहता ही है। उस से अधिक रक्त उस की नस-नाड़ियों में

नहीं समा सकता। दूध बनने के लिये इस से अधिक रक्त की आवश्यकता होगी। वह उस की नस-नाड़ियों में नहीं समा सकेगा। वस्तुतः रक्त से दूध नहीं बनता। घास आदि के रस से सीधा दूध बन जाता है। यह इससे भी पता लगता है कि जब बरसात में पशु अधिक हरा घास चरते हैं तो कई वार उन के दूध में बहुत बे-मालूम-सी हलकी-सी हरी झलक दिखाई देती है। कई वार जैसी जड़ी-बूटियें पशु खाता है उन के स्वाद और गन्ध की भी अत्यन्त हलकी-सी झलक दूध में प्रतीत होती है। पशु का शरीर तो दूध बनाने का एक यन्त्र मात्र है। पशु के रक्त से दूध बनने का कोई प्रश्न नहीं है। इस प्रकार दूध पीने में हिंसा का कोई सवाल नहीं उठता।

यदि यह भी मान लिया जाये कि रुधिर से ही दूध बनता है तो भी हिंसा का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। जब रुधिर रासायनिक परिवर्तन (Chemical Change) हो कर दूध बन जाता है तो वह एक नई चीज़ हो जाता है। जैसे खेत में डाला हुआ गोबर, मूत्र और विष्ठा रासायनिक परिवर्तन हो कर जब गेहूं, चना, मकई, चावल, आम और अंगूर में बदल जाते हैं तो वे गोबर आदि नहीं रहते। बिलकुल नई चीज बन जाते हैं। इसी प्रकार रासायनिक परिवर्तन द्वारा दूध में बदल कर रक्त बिलकुल नई वस्तु बन जाता है। वह रक्त नहीं रहता। फिर जैसा ऊपर की पंक्तियों में कहा है हम दूध लेने में पशु की हिंसा भी नहीं करते। हां, जो लोग पशु की सेवा नहीं करते, उसे अच्छी तरह खिलाते-पिलाते नहीं और उस के साथ प्यार-पुचकार नहीं करते तथा "फूका" आदि द्वारा कष्ट दे कर उन का दूध निकालते हैं, वे अवश्य हिंसा करते हैं। क्योंकि वे पशु को अपने स्वार्थ के लिये कष्ट दे रहे हैं। ऐसी हिंसा करने वालों को अवश्य पाप लगेगा। नहीं तो वैसे दूध पीने में कोई हिंसा नहीं है। फिर, कोई चाहे तो बिना दूध पीये अनाज, सब्ज़ी और फलों पर निर्भर रह कर भी अपने शरीर को पुष्ट रख सकता है।

अण्डे भी नहीं खाने चाहियें

कई लोग पूछा करते हैं कि अण्डे खा लेने चाहियें या नहीं? अण्डे तो मांस नहीं होते, उन के खाने में क्या हर्ज है? अण्डे भी नहीं खाने चाहियें। अण्डे में जीवात्मा निवास कर रहा होता है। थोड़े ही समय में अण्डे ने पक्षी का रूप धारण कर लेना होता है। हमें मालूम है कि अण्डा पक्षी बनने वाला है—एक जीवित प्राणी का रूप धारण करने वाला है। यह जानते हुये भी जब हम अण्डे को खा जाते हैं तो हम जान बूझ कर हिंसा कर रहे होते हैं। अण्डे को खा जाना वैसा ही है जैसा कि किसी स्त्री के गर्भ को निकाल कर

खा जाना। स्त्री के गर्भ में बालक तैयार हो रहा होता है और अण्डे में पक्षी का बच्चा। जब हम गर्भ-हत्या को पाप मानते हैं तो अण्डा खाना पाप क्यों नहीं है ? वह भी तो गर्भ-हत्या ही है ? जब हम मनुष्यों की गर्भ-हत्या करने के लिये उद्यत नहीं हैं तो हमें पक्षियों की गर्भ-हत्या करने का क्या अधिकार है ? गर्भ-हत्या करने वाले को कानून से दण्ड मिलता है। अण्डे खाने वाले को भी कानून से दण्ड मिलना चाहिये। फिर, अण्डा पक्षी के रज और वीर्य का मिश्रण होता है। उस का खा जाना एक घृणित कर्म है। यह ऐसा ही घृणित कर्म है जैसा कि स्त्री और पुरुष के रज और वीर्य को निकाल कर खा जाना घृणित कर्म होगा। दूसरी बात यह है कि अण्डा भी मांस की भांति ही तामसिक भोजन है। अण्डा खाने से भी खाने वाले के भीतर तामसिक वृत्ति पैदा होती है और उस में वे सभी दुर्गुण उत्पन्न होने लगते हैं जो ऊपर मांस से पैदा होने वाली तामसिक वृत्ति का वर्णन करते हुए गिनाये गये हैं। अण्डा मांस से मिलता-जुलता ही भोजन है। अण्डा खाने वाले में मांस खाने की आदत पड़ने का भी डर रहता है। अण्डा खाने में यह भी एक दोष है। जैसा ऊपर कहा गया है विश्व में पूर्ण शान्ति लाने के लिये लोगों का अहिंसा का सार्वभौम महाव्रत पालन करने वाला—पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन करने वाला—होना आवश्यक है। अण्डा खाने में भी हिंसा का समावेश रहने से वह अहिंसा के सार्वभौम महाव्रत के पालन में बाधक है। अण्डे में जो पौष्टिक तत्त्व बताये जाते हैं वे सब तत्त्व हमें दूध, दही, मक्खन, मलाई, अनाज, सब्ज़ी, फल और मेवे खाने से अच्छी तरह मिल सकते हैं। इस लिये भी अण्डे खाने की आवश्यकता नहीं है। इन सब हेतुओं से हमें अण्डे नहीं खाने चाहियें।

कई लोग पूछा करते हैं कि सामान्य अण्डे खाने में तो हिंसा का दोष हो सकता है, पर ऐसे अण्डे खाने में, जिन से बच्चे नहीं पैदा हो सकते जिन्हें फेक्ड ऐग्ग (Faked Egg) या निर्बीज अण्डे कहते हैं, क्या हर्ज है ? उन के खाने में तो हिंसा नहीं होगी। उन्हें क्यों न खा लिया जाय ? यह बात ठीक है कि ऐसे फेक्ड या निर्बीज अण्डे खाने में हिंसा वाला दोष नहीं आयेगा। परन्तु ऊपर गिनाये गये तामसिक वृत्ति पैदा होने आदि के शेष सभी दोष निर्बीज अण्डों के खाने में भी आयेंगे। निर्बीज अण्डे खाने से सबीज अण्डे खाने की आदत पड़ने का डर भी रहेगा। फिर यह पता लगाना भी सर्व-साधारण लोगों के लिये आसान नहीं है कि निर्बीज अण्डा कौन-सा है और सबीज अण्डा कौन-सा। निर्बीज अण्डे के धोखे में सबीज अण्डे भी खाये जा सकते हैं। इन सब कारणों से फेक्ड या निर्बीज अण्डे खाना भी उचित नहीं है।

फल और सब्ज़ी खाने में हिंसा नहीं होती

मांस-अण्डे खाने वाले लोग एक यह भी आक्षेप किया करते हैं कि तुम हिंसा-अहिंसा की बात करने वाले लोग मांस और अण्डे खाने में तो हिंसा मानते हो पर क्या फल और सब्जियें खाने में हिंसा नहीं होती ? वैदिक-धर्मी लोग वनस्पतियों में भी तो जीव मानते हैं। तब वनस्पतियों से प्राप्त होने वाले भोजन में भी तो हिंसा होगी ? क्या वनस्पतियों में जीव नहीं होता ? इस सम्बन्ध में यह कहना है कि यह तो ठीक है कि वनस्पतियों में भी जीव होता है। जहां जीव होता है वहां जीव रहित जड़-पदार्थों की तुलना में तीन प्रधान विशेषतायें देखी जाती हैं। (१) बाहर से भोजन को शरीर के अन्दर ले कर पचा कर शरीर का अङ्ग बनाना और इस प्रकार भीतर से अपने शरीर की वृद्धि करना। (२) बीज से अपने जैसी सन्तान पैदा करना। पशु-पक्षी और मनुष्यों का वीर्य भी बीज ही है। और (३) चेतना—सोचना-विचारना। वनस्पतियों में चेतना नहीं होती। शेष दोनों बातें दूसरे जीवधारियों की भांति ही होती हैं। अतः वनस्पतियों में जीव तो है। पशुपक्षियों और मनुष्यों से उन में केवल इतना भेद है कि उन में जीव सुषुप्ति की अवस्था में होता है। वहां जीव की चेतना गाढ़ से भी गाढ़ निद्रा में सोई पड़ी होती है। वह सोच-विचार नहीं सकता, सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। वनस्पति को काटने और तोड़ने से उसे कोई दुःख नहीं होता। अतः वनस्पति को काटने आदि में कोई हिंसा भी नहीं होती।

इस पर कई लोग शंका करते हैं कि यदि किसी प्राणी को क्लोरोफार्म (Chloroform) आदि ओषधियें सुंघा कर बेहोश कर के मार दिया जाय तो उस में भी हिंसा नहीं होनी चाहिये। क्लोरोफार्म से बेहोश प्राणी को भी दुःख नहीं होता। इस के उत्तर में हमारा कहना है कि क्लोरोफार्म सुंघा कर किसी प्राणी को मार डालने में हिंसा है। हम ने जान-बूझ कर क्लोरोफार्म सुंघा कर प्राणी की चेतना नष्ट की है। हम ने अपने स्थार्थ के वश में हो कर, अपनी शक्ति के बल पर, एक गरीब और निर्बल प्राणी की चेतना नष्ट की है। एक तो यही बुराई की बात है। दूसरे थोड़े समय के बाद ही बेहोशी उतर जाने पर उस प्राणी की चेतना लौट आयेगी वह फिर पहले की भांति अपने जीवन के सुख-आनन्दों को अनुभव करने लगेगा। पशु को बेहोश कर के मारने की हालत में भी हम अपने स्वार्थ के लिये ज़बरदस्ती एक प्राणी के प्राणों को ले कर उस के जीवन की सब खुशियें और उस के सब आनन्दों को छीन लेते हैं। अतः बेहोश कर के मारने में भी हिंसा ज्यों-की-त्यों बनी

रहती है। वनस्पति की हालत में हम ने अपने स्वार्थ के लिये उसे जबरदस्ती बेहोश नहीं किया है। हमें मालूम है कि उस ने सुषुप्ति से कभी भी नहीं जागना है—उस में चेतना और सुख-दुःख की अनुभूति कभी भी नहीं आनी है। हमें मालूम है कि उसे दुःख नहीं होता है। पशु-पक्षियों की अवस्था में हमें मालूम है कि उन्हें हमारी भांति ही सुख और दुःख होता है। फिर भी हम अपने स्वार्थ के लिये उन्हें मार देते हैं और उन के जीवन के सब हर्ष और आनन्द छीन लेते हैं। वनस्पतियों की अवस्था में हम ऐसा नहीं करते। वहां तो हमें पता है कि उन्हें सुख-दुःख होता ही नहीं है। इस लिये उन्हें जान-बूझ कर दुःख देने और उन के जीवन के हर्ष और आनन्द छीन लेने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। और इसी लिये वनस्पति के काटने और तोड़ने में हिंसा नहीं होती।

वनस्पतियों को सुख-दुख की अनुभूति नहीं होती

इस पर कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि यह बात नहीं है कि वनस्पतियों को सुख-दुःख नहीं होता। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने अपने वैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध कर दिया है कि वनस्पतियों को भी सुख-दुःख की अनुभूति होती है। इस पर हमारा निवेदन है कि श्री जगदीशचन्द्र वसु के परीक्षणों से यह बात सिद्ध नहीं हो सकी है। उन के परीक्षणों से इतना ही पाया गया है कि वनस्पतियों पर विशेष प्रकार की क्रिया करने से उन के शरीर के अवयवों में विशेष प्रकार की स्पन्दना—विशेष प्रकार की हरकत या गति—होती है। उन्हें छेड़ने से ऐसी स्पन्दना तो जड़-पदार्थों के अवयवों में भी हो जाती है। लोहे की एक छड़ के एक सिरे को ज़ोर से हथौड़े से पीटने पर उस छड़ के दूसरे सिरे के अवयव भी स्पन्दित हो उठेंगे। रासायनिक और भौतिक क्रियाओं से जिस प्रकार वनस्पति के शरीर के अवयव स्पन्दित हो जाते हैं उसी प्रकार इन क्रियाओं से जड़-पदार्थों के अवयव भी स्पन्दित हो जाते हैं। श्री जगदीशचन्द्र के परीक्षणों से वनस्पति में स्पन्दनामात्र देखी गई है। इतने से सुख-दुःख की अनुभूति सिद्ध नहीं होती। यही कारण है कि जब अपने परीक्षण दिखाने के लिये श्री जगदीशचन्द्र योरोप में गये थे तो वहां के अधिकांश वैज्ञानिक उन के परीक्षणों से प्रभावित नहीं हुए थे। अभी तक वैज्ञानिक जगत् में श्री जगदीशचन्द्र की बात स्वीकार नहीं हुई है। फिर, श्री जगदीशचन्द्र के परीक्षणों का बल वनस्पति में सुख-दुःख सिद्ध करने पर नहीं था, उन का बल वनस्पति में जीव की सत्ता सिद्ध करने पर था। उस प्रकार का सुख-दुःख वनस्पति में श्री जगदीशचन्द्र नहीं मानते जैसा कि पशु-पक्षियों और मनुष्यों को होता है। उन से पूछने पर श्री जगदीशचन्द्र ने कहा था कि वनस्पति में

उस प्रकार की चेतना नहीं होती जिसे अंग्रेज़ी में इमैजिनेशन (Imagination = संस्कार और स्मृतिमूलक कल्पना) कहा जाता है। सुख-दुःख की विशिष्ट अनुभूति इमेजिनेटिव चेतना के कारण हुआ करती है। अतः वनस्पति को काटने और तोड़ने में हिंसा नहीं होती।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान में रखने की है। वह यह कि यदि वनस्पतियों को सुख-दुःख होता भी हो—जो कि सिद्ध नहीं है—तो भी वनस्पति-मूलक भोजन करने में हम हिंसा से अधिक-से-अधिक बचे रह सकते हैं। हम जितने भी गेहूं, चना, मकई, ज्वार, बाजरा और चावल आदि अनाज तथा उड़द, मूंग, मोठ और अरहर आदि दालें खाते हैं वे सब तो उन के पौदों के पक कर सूख जाने पर प्राप्त होते हैं। उन के खाने में हिंसा का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। हम वृक्षों के फल भी प्रायः पक जाने पर ही लेते हैं। इस विषय में और भी सावधानी बरती जा सकती है। पके फल तोड़ने में भी हिंसा का प्रश्न नहीं उठता। जैसे कि मनुष्य के नाखून काटने में हिंसा का प्रश्न नहीं उठता। हरी सब्ज़ियें खाने में यह प्रश्न कुछ रह जायेगा। अहिंसा का व्रती हरी सब्जियों को खाना छोड़ देगा। हमारी प्रवृत्ति यह रहनी चाहिये कि हम कम-से-कम हिंसा करें—हमारा जीवन अधिक-से-अधिक अहिंसा का होना चाहिये। वनस्पति-मूलक भोजन में यह बात अधिक-से-अधिक संभव है। यों जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है वनस्पतियों को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती है। अतः वनस्पति-मूलक भोजन करने में हिंसा का दोष नहीं आता।

७
परिशिष्ट

इस लेख में मांस की भोजन-सम्बन्धी उपयोगिता पर विचार करते हुए हम ने कहा है कि पोषक तत्त्वों की दृष्टि से मांस का भोजन अनाजों, सब्जियों, फलों, मेवों और दूध की तुलना में घटिया भोजन है। आगे कुछ प्रसिद्ध अनाजों, सब्ज़ियों, फलों, मांसों और दूध के पोषक तत्त्वों की तालिका दी जाती है। पाठक देखेंगे कि अनाजों, सब्ज़ियों, फलों, मेवों और दूध में मांस की अपेक्षा पोषक तत्त्वों की मात्रा कहीं अधिक है। यदि भोजन में अनाजों, सब्जियों, फलों, मेवों और दूध का उचित समन्वय रखा जाये तो कोई ऐसा पोषक तत्त्व नहीं है जो शाकाहार के भोजन द्वारा मांसाहार की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त न किया जा सके। दूध में पोषक तत्त्वों का अनुपात पाठकों को कुछ कम प्रतीत होगा। पर यह इस कारण है कि दूध में पानी की मात्रा बहुत अधिक होती है। दूध का सेवन अधिक परिमाण में किया जाता है। इस कारण दूध से मिलने वाले पोषक तत्त्व शरीर में पर्याप्त मात्रा में पहुंच जाते हैं। बच्चे का पहला भोजन माता का दूध ही होता है। माता के दूध में

परमात्मा ने सब पोषक तत्त्व उचित अनुपात में रखे हैं। अतः माता का दूध आदर्श भोजन है। गौ का दूध माता के दूध से बहुत अधिक मिलता है। इस लिये गौ का दूध आदर्श भोजन है। इसी लिये वेदादि शास्त्रों और आयुर्वेद के ग्रन्थों में गौ के दूध को बहुत श्रेष्ठ भोजन बताया गया है। इस प्रकार कोई ऐसा पोषक तत्त्व नहीं है जिस के लिये हमें मांस के सेवन की आवश्यकता हो। फिर जैसा ऊपर लेख में दिखाया गया है मांस के भोजन में हिंसा का पाप तो रहता ही है, साथ ही उस में अन्य अनेक प्रकार के दोष और हानियें भी रहती हैं। ये सब दोष शाकाहार के भोजन में नहीं रहते और पोषक तत्त्व शाकाहार से अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मांस में जो कुछ विटामिन आदि पोषक तत्व होते भी हैं वे मूलतः वनस्पतियों से ही उस में पहुंचते हैं। जिन पशुओं का मांस खाया जाता है वे शाकाहारी होते हैं, मांसाहारी नहीं। भोजन के पोषक तत्त्वों का मूल स्रोत शाकाहार है। अतः मनष्य को शाकाहार का ही सेवन करना चाहिये जिस में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

भोज्य-पदार्थों के पोषक तत्त्वों की तुलनात्मक तालिका

यह तालिका भारत सरकार की कुनूर प्रयोगशाला में डॉक्टर डब्ल्यू. आर. एकरॉयड तथा श्री बी. एन. पटवर्धन और श्री एस. रङ्गनाथन की अध्यक्षता में किये गये परीक्षणों के आधार पर तैयार की गई है और भारत सरकार के स्वास्थ्य बुलेटिन संख्या २३ में प्रकाशित हुई है[१]।

---

१. From 'Health Bulletin NO. 23.—The Nutritive Value of Indian Foods and the Planning of Satisfactory Diets.' by W.R. Aykroyd, Director (1935–1945), Nutrition Research Laboratories, Indian Rosearch Fund Assoctition, Coonoor. Fourth Edition (Fully Revised), by V. N. Patwardhan, Director, and S. Ranganathan, Chief Chemist, Nutrition Research Laboratories, Indian Research Fund Association, Coonoor. Published by the Manager of Publications, Delhi. Printed in India by the Manager, Government of India Press, Simla, 1951.

	जल प्रतिशत	प्रोटीन प्रतिशत	वसा (चिकनाई) प्रतिशत	लवण आदि प्रतिशत	रेशा प्रतिशत	कार्बोहाइड्रेट प्रतिशत	कैलशियम प्रतिशत	फासफोरस प्रतिशत	लोहा प्रतिशत	ताप-मात्रा प्रति १०० ग्राम में	कैरोटिन(विटामिन ए) १०० ग्राम में	विटामिन बी, (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	निकोटिन अम्ल प्रति १०० ग्राम में	राईबोफ्लेविन (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	विटामिन सी प्रति १०० ग्राम में
बाजरा	१२.४	११.६	५.०	२.७	१.२	६७.१	०.०५	०.३५	८.८	३६०	२२०	३३०	३.२	—	—
मक्का का आटा	११.५	०.६	०.५	०.४	—	८७.०	०.०२	०.३२	५.३	३५५	—	—	—	—	—
चावल	१३.३	६.४	०.४	०.८	—	७६.१	०.०१	०.१५	२.२	३४६	०	२१०	३.८	—	—
गेहूं (आटा)	१२.२	१२.१	१.७	१.८	—	७२.२	०.०४	०.३२	७.३	३५३	—	—	—	—	—
चना	९.८	१७.१	५.३	२.७	३.९	६१.२	०.१९	०.२४	९.८	३६१	३१६	३००	२.६	—	—
मूंग	१०.९	२४.०	१.४	३.४	—	६०.३	०.२९	०.२७	१०.८	३५०	६४	४२०	२.०	—	—
उर्द	१०.४	२४.०	१.३	३.६	४.१	५६.६	०.१४	०.२८	८.४	३३४	१५८	४६५	२.०	—	—
मसूर की दाल	१२.४	२५.१	०.७	२.१	—	५९.७	०.१३	०.२५	२.०	३४६	४००	४५०	१.५	—	—
मटर सूखी	१०.०	१०.७	१.१	२.१	४.५	५६.६	०.६७	०.३६	४.४	३१५	—	४५०	१.३	—	—
अरहर की दाल	१५.२	२२.३	१.७	३.६	—	५७.२	०.१४	०.२६	८.८	३३३	२२०	४५०	२.४	—	—
सोया बीन	८.१	४३.२	१९.५	४.६	३.७	२०.९	०.२४	०.६९	११.५	४३२	७१०	९००	२.४	—	—
बथुआ	८७.९	४.७	०.४	३.३	—	३.७	०.१५	०.०८	४.२	३७	—	—	—	—	—
बन्द गोभी	९०.२	१.८	०.१	०.६	१.०	६.३	०.०३	०.०५	०.८	३३	२,०००	१५०	०.४	३०	१२४
मेथी	८१.८	४.९	०.९	१.६	१.०	९.८	०.४७	०.०५	१६.९	६७	३,९००	२१०	०.८	—	—
चने का साग	६०.०	८.२	०.५	३.५	—	२७.२	०.३१	०.२१	२८.३	१४७	६,७००	—	—	—	—
सलाद	९२.९	२.१	०.३	१.२	०.५	३.०	०.०५	०.०३	२.४	२३	२२००	२७०	०.४	१२०	१५

	जल प्रतिशत	प्रोटीन प्रतिशत	वसा (चिकनाई) प्रतिशत	लवण आदि प्रतिशत	रेशा प्रतिशत	कार्बोहाइड्रेट प्रतिशत	कैलशियम प्रतिशत	फासफोरस प्रतिशत	लोहा प्रतिशत	ताप-मात्रा प्रति १०० ग्राम में	कैरोटिन(विटामिन ए) १०० ग्राम में	विटामिन बी (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	निकोटिन अम्ल प्रति १०० ग्राम में	राईबोफ्लेविन (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	विटामिन सी प्रति १०० ग्राम में
पालक	९१.७	१.९	०.९	१.५	—	४.०	०.०६	०.०१	५.०	३२	२६०० से ३५०० तक	२१०	०.५	६०	४८
गाजर	८६.०	०.९	०.२	१.१	१.२	१०.७	०.०८	०.५३	१.५	४७	२००० से ४३० तक	१८०	०.४	२०	३
प्याज	८६.८	१.२	०.१	०.४	—	११.७	०.१८	०.०५	०.७	५१	—	१२०	०.४	१०	११
आलू	७४.७	१.६	०.१	०.६	—	२२.९	०.०१	०.०३	०.७	९९	४०	६०	१.२	१०	१७
मूली	९०.८	०.६	०.३	०.९	—	७.४	०.०५	०.०२	०.५	३५	३	१८०	०.४	—	१७
करेला	९२.४	१.६	०.२	०.८	०.८	४.२	०.०२	०.०७	२.२	२५	२१०	७२	०.५	९०	८८
बैंगन	९१.५	१.३	०.३	०.५	—	६.४	०.०२	०.०७	१.३	३४	५	४५	०.८	९०	२३
फूल गोभी	८९.४	३.५	०.४	१.४	—	५.३	०.०३	०.०६	१.३	३९	३८	३३०	०.९	८०	६६
खीरा	९६.४	०.४	०.१	०.३	—	२.८	०.०१	०.०३	१.५	१४	—	९०	०.२	४	७
गांठ गोभी	९२.१	१.१	०.२	०.७	—	५.९	०.०२	०.०४	०.४	३०	३६	—	०.५	—	८५
भिण्डी	८८.०	२.२	०.२	०.७	१.२	७.७	०.०९	०.०८	१.५	४१	५८	६३	—	—	१६
शलजम	९१.४	३.१	०.१	१.४	—	४.०	०.१	०.१	१.२	२१	—	—	—	—	—
कद्दू	९२.६	१.४	०.१	०.६	—	५.३	०.०१	०.०३	०.७	२८	८४	६०	०.५	४०	२
टिंडा	९२.३	१.७	०.१	०.६	—	५.३	०.०२	०.०३	०.९	२९	२८	—	—	—	—
टमाटर हरा	९२.८	१.९	०.१	०.७	—	४.५	०.०२	०.०४	२.४	२७	३२०	६९	०.४	०.०	३१

चप्पन कद्दू	९४.८	०.५	०.१	०.३	—	४.३	०.०१	०.०३	०.६	२०	०	—	—	—	१८
बादाम	५.२	२०.८	५८.९	२.९	१.७	१०.५	०.२३	८.४९	३.५	६५५	०	२४०	२.५	—	०
काजू	५.९	२१.२	४६.९	२.४	१.३	२२.३	०.०५	.४५	५.०	५९६	१००	—	२.१	१९०	०
नारियल	३६.३	४.५	४१.६	१.०	३.६	१३	०.०१	०.२४	१.७	४४४	०	४५	०.८	१००	१
मूंगफली	७.९	२६.७	४०.१	१.९	३.१	२०.३	०.०५	०.३९	१.६	५४९	६३	९००	१४.१	३००	०
सरसों (बीज)	८.५	२२	३९.७	४.२	१.८	२३.८	०.४९	०.७	१७.९	५४१	२७०	—	४	—	०
पिस्ता	५.६	१९.८	५३.५	२.८	२.१	१६.२	०.१४	०.४३	१३.७	६२६	२४०	—	१.४	—	०
अखरोट	४.५	१५.६	६४.५	१.८	२.६	११	०.१	०.३८	४.८	६८७	१०	४५०	१.६	—	०
लहसुन	६२.८	६.३	०.१	१.०	०.८	२९.०	०.०३	०.३१	१.३	१४२	०	—	०.४	—	१३
सेब	८५.९	०.३	०.१	०.३	—	१३.४	०.०१	०.०२	१.७	५६	०	१२०	०.२	३०	२
केला (बनाना)	६१.४	१.३	०.२	०.७	—	३६.४	०.०१	०.०५	०.४	१५३	०	१५०	०.३	३३	१
रामफल	७६.८	१.४	०.२	०.७	—	२०.९	०.०१	०.०१	.०६	९१	०	—	—	—	—
खजूर	२६.१	३.०	०.२	१.३	२.१	६७.३	०.०७	०.०८	१०.६	२८३	६००	९०	०.८	३०	०
अंजीर	८०.८	१.३	०.२	०.६	—	१७.१	०.०६	०.०३	१.२	७५	२७०	—	०.६	५०	२
अंगूर	८५.५	०.८	०.१	०.४	३.०	१.२	०.०३	०.०२	०.४	४५	१५	०	०.३	१०	३
अमरूद	७६.१	१.५	०.२	०.८	६.९	१४.५	०.०१	०.०४	१.०	६६	०	—	०.२	३०	२९९
नीम्बू	८५.०	१.०	०.९	०.३	१.७	११.१	०.०७	०.०१	२.३	५७	०	—	०.१	४	३९
आम	८६.१	०.६	०.१	०.३	१.१	११.८	०.०१	०.०२	०.३	२०	४८००	—	०.३	५०	१३
संतरा	८७.८	०.९	०.३	०.४	—	१०.६	०.०५	०.०२	०.१	४९	३५०	१२०	—	६०	६८
नाशपाती	८६.९	०.२	०.१	०.३	१.०	११.५	०.०१	०.०१	०.७	४७	१४	—	०.२	३०	०
केला (प्लान्टेन)	७३.४	१.१	०.१	०.७	—	२४.७	०.०१	०.०३	०.५	१०४	१२४	—	०.३	१७०	६
अनार	७८.०	१.६	०.१	०.७	५.१	१४.६	०.०१	०.०७	०.३	६५	०	—	—	१०	१६

	जल प्रतिशत	प्रोटीन प्रतिशत	(वसा चिकनाई) प्रतिशत	लवण आदि प्रतिशत	रेशा प्रतिशत	कार्बोहाइड्रेट प्रतिशत	कैलशियम प्रतिशत	फासफोरस प्रतिशत	लोहा प्रतिशत	ताप मात्रा प्रति १०० ग्रामों में	कैरोटिन (विटामिन ए) प्रति १०० ग्राम में	विटामिन बी, (माइक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	निकोटिन अम्ल प्रति १०० ग्राम में	राईबोफ्लेविन (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	विटामिन सी प्रति १०० ग्राम में
टिमाटर पक्का	६४.५	१.०	०.१	०.५	—	३.६	०.०१	०.०२	०.१	२१	३२०	१२०	०.४	६०	३२
गो मांस	७४.३	२२.६	२.६	१.०	—	—	०.०१	०.१६	०.८	—	०	१५०	६.४	४०	२
अंडा मुर्गी का	७३.७	१३.३	१.०	—	—	०.०६	०.२२	२.१	१७३	१२००	१०००	—	०	—	—
मछली	७८.४	२२.६	०.६	०.८	—	—	०.०२	०.१६	०.६	२६	६.०	—	१० से ३.६ तक	—	—
भेड़ का मांस	७१.५	१८.५	१३.३	१.३	—	—	०.१५	०.१५	२.५	३१	०	१८०	६.८	२७०	—
सुअर का मांस	७७.४	१८.७	४.४	१.०	—	—	०.०३	०.२	२.३	०	०	५४०	२.८	६०	२
मुर्गे का मांस	७२.२	२५.६	०.६	१.३	—	—	०.०३	.२५	—	—	—	—	—	—	—
दूध (गाय का)	८७.६	३.३	३.६	०.७	—	४.८	०.१२	०.०६	०.२	१८०	०	५१	०.१	२००	२
दूध (भैंस का)	८१.०	४.३	८.८	०.८	—	५.१	०.२१	०.१३	०.२	१६२	०	—	०.१	—	—

वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य तथा पश्चिमी डाक्टर

१

आर्य संस्कृति में ब्रह्मचर्य का महत्त्व

ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त उन थोड़े से महत्त्वपूर्ण आधारभूत सिद्धान्तों में से है जिन पर भारतीय आर्य संस्कृति का भव्य भवन खड़ा हुआ है। वेदों से ले कर गीता तक सब आर्य-धर्म शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाये गये हैं और व्यक्ति के लिये ब्रह्मचर्य का जीवन बिताने पर भारी बल दिया गया है। आर्यों के सभी ऋषि-मुनि, आचार्य और महापुरुष ब्रह्मचर्य की महिमा का बखान करते हुए अघाते नहीं रहे हैं। आर्यों के इतिहास में जिन महापुरुषों की सब से अधिक प्रतिष्ठा और पूजा है वे अपने विद्यार्थी-काल में तो पूर्ण ब्रह्मचारी होते ही रहे हैं, गृहस्थ में भी वे यथासंभव अधिक-से-अधिक संयम का जीवन बिताते रहे हैं और इस प्रकार मनु के शब्दों में वे गृहस्थ में भी एक तरह से ब्रह्मचारी[1] ही रहते रहे हैं। हमारे महाराज मनु, भगवान् राम और कृष्ण, भरत और लक्ष्मण, जनक और व्यास आदि महापुरुष इसी कोटि के थे। हमारे इतिहास में अनेक प्रतिष्ठित और पूज्य महापुरुष ऐसे होते रहे हैं जो जीवन भर अखण्ड ब्रह्मचारी रहे हैं। हनुमान्, भीष्मपितामह, शुकदेव, शंकराचार्य और ऋषि दयानन्द इसी कोटि के महापुरुष हुए हैं। हमारे इतिहास में अनेक प्रतिष्ठित और पूज्य पुरुष ऐसे भी होते रहे हैं जिन्होंने कुछ काल तक ही गृहस्थ का जीवन बिताया है, उस के अनन्तर वे पूर्ण ब्रह्मचारी रहे हैं। महात्मा बुद्ध और महात्मा गान्धी इसी कोटि के महापुरुष थे। मनु से ले कर ऋषि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा गान्धी तक की आर्य-विचारकों, ऋषि-मुनियों, साधु-सन्तों, महात्माओं और महापुरुषों की अखण्ड परम्परा अनथक हो कर ब्रह्मचर्य की महिमा और गरिमा के गीत गाती रही है। वैदिकधर्मी आर्य-जाति की विचारधारा में ब्रह्मचर्य पर जितना बल दिया जाता है उतना अन्य किसी जाति की विचारधारा में नहीं दिय जाता। आर्य-जाति में जिन दस यम और नियमों[2] को चरित्रवान् व्यक्ति के चरित्र का आवश्यक अंग माना जाता है उन में ब्रह्मचर्य मुख्य स्थान रखता है। आर्यों

---

१. निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्। मनु. ३. ५०।

२. शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम।
अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम।

की वर्णाश्रमधर्म की समाज-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के लिये—बालकों की अवस्था में कम-से-कम २५ वर्ष की आयु तक और कन्याओं की अवस्था में कम-से-कम १६ वर्ष की आयु तक—ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना आवश्यक माना गया है। आर्य-विचारधारा में विद्यार्थी-काल को तो नाम ही ब्रह्मचर्याश्रम का दे दिया गया है।। फिर गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में जा कर पुनः प्रत्येक व्यक्ति ने ब्रह्मचर्य का ही जीवन बिताना है। इतना अधिक बल आर्य-विचार-धारा में ब्रह्मचर्य पर दिया गया है !

ब्रह्मचर्य शब्द का व्यापक अर्थ

ब्रह्मचर्य संस्कृत भाषा का एक ऐसा शब्द है जिस का संसार की किसी भाषा के एक शब्द में अनुवाद नहीं किया जा सकता। ब्रह्मचर्य का पहिला मुख्य अर्थ होता है "ब्रह्म" अर्थात् "परमात्मा" में विचरण—परमात्मा को प्राप्त करना, परमात्मा का साक्षात्कार करना। ब्रह्म का, परमात्मा का, साक्षात्कार और प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक "ब्रह्म" अर्थात् "वेद" और तदनुकूल शास्त्रों में विचरण न किया जाये—उन का गम्भीर और व्यापक स्वाध्याय न किया जाये। इस लिये ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ होता है वेदों और वेदोपलक्षित शास्त्रों और विद्या-विज्ञानों का अध्ययन करना। परमात्मा का साक्षात्कार और वेदादि शास्त्रों का अध्ययन नहीं हो सकता जब तक संयम का जीवन न बिताया जाये। इस लिये ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ होता है संयम का जीवन। इस में भी विशेष कर अपनी जननेन्द्रिय को वश में रखना और जननेन्द्रिय को वश में रख कर अपने वीर्य को शरीर से बाहर न होने देना। इस अर्थ में ब्रह्मचर्य का शब्दार्थ हो जाता है "ब्रह्म" अर्थात् "वीर्य" की प्राप्ति—वीर्य का रक्षण। सारे शरीर में व्यापक और जीवन के लिये अत्यन्त महान् अर्थात् महत्त्व-पूर्ण होने के कारण वीर्य को ब्रह्म कहा जाता है। अपने-अपने क्षेत्र में अत्यन्त महान् होने के कारण परमात्मा, वेद और वीर्य तीनों ब्रह्म[1] कहलाते हैं। ब्रह्म का शब्दार्थ होता है—सब से बढ़ा हुआ, सब से महान्[2]। जननेन्द्रिय तब तक वश में नहीं हो सकती—वीर्य का रक्षण तब तक नहीं हो सकता—

१. ब्रह्म वै प्रजापतिः, श. १३. ६. २. ८। वेदो ब्रह्म, जै. उ. ४. २५. ३।
ब्रह्म वा ऋक्, कौ. ७. १०। ब्रह्म वै मन्त्रः, श. ७. १. १. ५।
रेतो वै प्रजापतिः, श. १४. ६. २. ६। (रेतो वीर्यं, प्रजापतिर्ब्रह्म)।

२. बृंहणाद् ब्रह्म। बृहि वृद्धौ। बृंहति परिवृद्धं भवति महिमान्वितं भवति इति ब्रह्म। बृहि वृद्धौ धातोर्बृंहेर्नोऽच्चेति (उणादि ४. १४५) सूत्रेण मनिन्, नकारस्याऽकारः ऋतो रत्वञ्च।

जब तक हमारी जिह्वा, नाक, आंख, कान, और त्वचा ये इन्द्रियें तथा मन वश में न हों। यदि इन्द्रियें और मन इधर-उधर विषयों में भटकते रहेंगे तो जननेन्द्रिय भी वश में नहीं हो सकती—वीर्य की रक्षा भी नहीं हो सकती। इस लिये ब्रह्मचर्य का अर्थ हो जाता है जननेन्द्रिय को वश में कर के वीर्य की रक्षा करना और उस के उपाय के रूप में अपनी जिह्वा आदि पांचों इन्द्रियों को और मन को वश में कर के रखना, उन्हें इधर-उधर विषयों में न भटकने देना। इतना व्यापक अर्थ ब्रह्मचर्य का होता है। इसी लिये संसार की किसी भाषा के एक शब्द में इस शब्द का अनुवाद नहीं हो सकता।

वीर्य की उत्पत्ति और उस का कार्य

बोल-चाल की भाषा में ब्रह्मचर्य का मोटा अर्थ जननेन्द्रिय को वश में कर के वीर्य की रक्षा करना होता है। वीर्य अण्डकोषों में उत्पन्न होने वाला एक रस या तरल पदार्थ है। अण्डकोषों में उत्पन्न होने के पश्चात् वीर्य की दो धारायें हो जाती हैं। एक धारा तो वीर्य-कोष (Semenal Vescicle) नामक थैली में चली जाती है। वीर्यकोष नामक थैली का स्थान हमारे शरीर में मूत्राशय और शौचाशय के मध्य में होता है। वीर्यकोष में संचित होने वाला वीर्य सन्तान-उत्पत्ति के काम में आता है। वीर्य की दूसरी धारा हमारे रुधिर में मिलती रहती है। रक्त में मिलते रहने वाले वीर्य को "ओज" नाम से कहा जाता है। यह रक्त में मिलते रहने वाला वीर्य या ओज रक्त के द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग में जा कर उसे पुष्टि और शक्ति देता है। इस के कारण चेहरे में कान्ति रहती है। आंखों में चमक रहती है। इन्द्रियों में काम करने की शक्ति रहती है। भूख लगती है। हाज़मा ठीक रहता है। खाया-पीया अच्छी तरह हज़म होता है और शरीर में नया और ताज़ा रक्त अधिक बनता है जिस से स्वास्थ्य उन्नत होता है। कब्ज़ नहीं होती। काम करने में थकावट नहीं होती। शरीर में चुस्ती और मन में प्रसन्नता रहती है। मस्तिष्क और बुद्धि तीव्र होती है। स्मृति-शक्ति बढ़ती है। पढ़ने-लिखने में जी लगता है। पढ़ा लिखा याद रहता है। नये-नये विचार सूझते हैं। किसी भी काम में लगे रहो, जी नहीं उकताता। शरीर नीरोग रहता है। ये सब लाभ रक्त में पहुंचता हुआ वीर्य या ओज हमें देता है। जब तक वीर्यकोष भरा रहता है तब तक अण्डकोषों में उत्पन्न होने वाला सारा वीर्य रक्त में जाने वाली धारा द्वारा हमारे रक्त में ही मिलता रहता है। जब वीर्यकोष खाली हो जाता है तो उसे भरने के लिये अण्डकोषों मे से वीर्य वहां पहुंचता है।

वीर्यनाश के दुष्परिणाम

जब हमारे अन्दर काम-वासना जागती है तो हमारी जननेन्द्रिय में खून भर जाता है और उस के कारण वीर्यकोष पर दबाव पड़ता है। जब यह दबाव एक सीमा से बढ़ जाता है तो वीर्यकोष में से वीर्य निकल कर मूत्रेन्द्रिय के द्वारा शरीर से बाहर हो जाता है। वीर्यकोष खाली हो जाता है। खाली वीर्यकोष को भरने के लिये अण्डकोषों से पुनः वहां वीर्य पहुंचता है। जब हम केवल सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से प्रेरित हो कर कभी-कभी वीर्यकोष से वीर्य को बाहर करते हैं तब तो रक्त में मिलते रहने वाले वीर्य या ओज की मात्रा विशेष कम नहीं होती। परन्तु जब हम केवल शारीरिक आनन्द के पीछे पड़ कर विषयासक्ति में फंस कर बार-बार अपने वीर्यकोष को खाली करने लगते हैं तो उस का परिणाम बहुत बुरा होता है। बार-बार वीर्यकोष खाली होने से अण्डकोषों को उसे बार-बार भरना पड़ता है। इस से रक्त में जाने वाले वीर्य या ओज की मात्रा बहुत कम हो जाती है। उस का प्रभाव हमारे सारे शरीर और जीवन पर बहुत बुरा पड़ता है। चेहरे की कान्ति कम होने लगती है। आंखों की चमक जाने लगती है। इन्द्रियों की शक्ति कम होने लगती है। भूख कम लगने लगती है। हाज़मा कमजोर पड़ने लगता है। खाया-पीया अच्छी तरह हज़म नहीं होता। शरीर में नया और ताजा खून कम बनने लगता है। स्वास्थ्य क्षीण होने लगता है। शरीर में थकावट रहने लगती है। कब्ज रहने लगती है। किसी काम में जी नहीं लगता। घण्टा-आधा घण्टा काम कर के ही आंखें और दिमाग़ थकने लगता है। स्मरण-शक्ति कमजोर पड़ने लगती है। तर्क-वितर्क और ऊहापोह की शक्ति भी कम पड़ने लगती है। पढ़ा-लिखा याद नहीं रहता। नये-नये विचार सूझने बन्द हो जाते हैं। शरीर भारी और मन उदास-सा रहने लगता है। ये सब हानियें रक्त में वीर्य या ओज की मात्रा कम जाने से होने लगती हैं।

जितना-जितना काम-वासना और विषयासक्ति में फंस कर हम वीर्य-कोश से वीर्य को बाहर करेंगे उतना-उतना रक्त में जाने वाली वीर्य की मात्रा कम होती जायेगी। ऐसे भी लोग होते हैं जिन का मन अपने वश में बिलकुल नहीं होता और जो काम-वासना के वशीभूत हो कर दिन में कई-कई बार अपने वीर्य-कोश को खाली करते हैं। ऐसे भी अभागे लोग देखे गये हैं जो दिन में सात-सात, आठ-आठ और इस से भी अधिक बार अपना वीर्य-नाश करते रहते हैं। ऐसे लोगों के अण्डकोषों में उत्पन्न होने वाला वीर्य सारा-का-सारा वीर्य-कोष को भरने में लगा रहता है। उन के रक्त में जाने

वाली वीर्य की मात्रा शून्य के बराबर हो जाती है। ऐसे लोगों का जीवन जीते-जी नरक का जीवन हो जाता है। उन की सारी शक्तियें नष्ट हो जाती हैं। वे अनेक रोगों के शिकार हो जाते हैं। मर कर ही इस कष्ट से उन का छुटकारा होता है। अति विषयासक्ति से जिस प्रकार पुरुषों को हानि होती है उसी प्रकार अति विषयासक्ति से स्त्रियों को भी हानि होती है।

जीवन-प्रदीप का तेल

चेहरे की कान्ति, आंखों की चमक, इन्द्रियों में काम करने की शक्ति, शरीर में बल, स्फूर्ति, उत्साह, स्वास्थ्य और नीरोगता, चित्त में प्रसन्नता और काम में लगे रहने की उमंग, शरीर और मन में थकावट का न होना, स्मृति और ऊहापोह की शक्ति में तीव्रता रहना आदि सब बातों को यदि एक शब्द में हम "जीवन का प्रकाश" नाम दे दें तो वीर्य को हम "जीवन का स्नेह या तेल" नाम से कह सकते हैं। जो स्थान दीपक में तेल का होता है वही स्थान हमारे जीवन में वीर्य का है। ज्यों-ज्यों दीपक में तेल की मात्रा बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उस का प्रकाश भी बढ़ता और उज्जवल होता जाता है। ज्यों-ज्यों दीपक में तेल की मात्रा कम होती जाती है त्यों-त्यों उस का प्रकाश भी कम होता और फीका पड़ता जाता है। और जब दीपक में तेल बिलकुल नहीं रहता तो उस का प्रकाश बिलकुल जाता रहता है--तब दीपक बुझ जाता है। उसी प्रकार जब हमारे शरीर में ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य की मात्रा बढ़ती रहती है तो ऊपर उल्लिखित हमारा जीवन-प्रकाश भी बढ़ता रहता है। और ज्यों-ज्यों विषयासक्ति के कारण हमारे शरीर में वीर्य की मात्रा कम होती जाती है त्यों-त्यों हमारे जीवन का यह प्रकाश भी धीमा पड़ता जाता है। और अन्त में जब हम अत्यन्त विषयासक्ति के कारण अपने शरीर से वीर्य को अतिशय परिमाण में बाहर करते रहते हैं जिस के कारण हमारे रक्त को "ओज" मिलना सर्वथा बन्द हो जाता है और उस के परिणाम-स्वरूप हमारा रक्त शक्तिहीन हो जाता है जिस का फल यह होता है कि अण्डकोषों में वीर्य बनना ही बन्द हो जाता है--क्योंकि अण्डकोषों को भी शुद्ध और शक्तियुक्त रक्त मिलते रहने से ही उन में वीर्य-निर्माण की शक्ति बनी रहती है--तब शरीर में वीर्य बिलकुल न रहने के कारण हमारे जीवन का प्रकाश बिलकुल बुझ जाता है और हमारी मृत्यु हो जाती है। वीर्य का और जीवन-शक्ति का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है।

विषयासक्ति से होने वाली भयङ्कर हानियें

प्रारम्भ में जब विषयानन्द में पड़ कर व्यक्ति अपने वीर्य का नाश करने लगता है तो उसे कुछ हानि होती प्रतीत नहीं होती। क्योंकि शरीर में नया

वीर्य भी साथ-साथ बन रहा होता है। परन्तु निरन्तर असंयम का जीवन जारी रखने पर कुछ कालान्तर में वीर्य-नाश की हानियें धीरे-धीरे अनुभव होने लगती हैं। पहले शरीर पर वीर्य-नाश का प्रभाव पड़ने लगता है। रीढ़ की हड्डी और पिण्डलियों में दर्द रहने लगता है। उठते-बैठते आंखों में तारे-से टूटने लगते हैं। शरीर थका हुआ रहता है। भूख नहीं लगती। इस प्रकार के कई प्रभाव शरीर पर दिखाई देने लगते हैं।

परमात्मा बड़े कृपालु हैं। उन्होंने इस धरती-माता पर इस प्रकार की अनेक ओषधियें उत्पन्न कर रखी हैं जिन के सेवन से हमारे ये रोग दूर हो सकते हैं। यदि किसी चिकित्सक की सलाह से हम इन ओषधियों का सेवन करें और संयम से रहने का निश्चय कर लें तो हमारे ये रोग शीघ्र ही ठीक हो जायेंगे और हम फिर से पूर्ण स्वस्थ हो जायेंगे।

परन्तु विषयासक्त व्यक्ति से प्रायः संयम किया नहीं जाता। वह चिकित्सा से अच्छा हो कर पुनः असंयम में पड़ जाता है। असंयम और अधिक बढ़ने पर वीर्य-नाश से शरीर पर तो उपर्युक्त बुरे प्रभाव दिखाई देने ही लगते हैं, मन पर भी उस के बुरे प्रभाव दिखाई देने लगते हैं। स्मृति-शक्ति कम होने लगती है। पढ़ा-लिखा याद नहीं रहता। ऊहापोह की शक्ति जाती रहती है। नये विचार नहीं सूझते। किसी काम में जी नहीं लगता। घण्टा, आधा घण्टा काम कर के ही मन भी थक जाता है और दिमाग भी। जीवन भारी हो जाता है।

परमात्मा बड़े कृपालु हैं। यदि अब भी हम संभल जायें, अब भी हम संयम का जीवन बिताना आरम्भ करदें और प्रभु की बनाई ओषधियों का सेवन करें तो हम पुनः पूर्ण स्वस्थ हो सकते हैं।

व्यक्ति कुछ दिन संयम करता है और चिकित्सा कराता है। वह अच्छा हो जाता है। पर उस की असंयम की आदत उसे पुनः आ दबाती है। फिर वह लम्पट हो जाता है। इस लम्पटता का शरीर और मन पर ऊपर उल्लिखित बुरा प्रभाव पुनः पड़ता है। यदि यह विषयासक्ति और अधिक बढ़ती रहती है तो उस के परिणाम-स्वरूप शरीर का रक्त बिलकुल दूषित हो जाता है और उस में रोगों का प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं रहती। फलतः कई तरह के रोग लग जाते हैं। आतशक (Syphilis) और सुजाक (Gonorrhoea) जैसी भयङ्कर बीमारियें भी लग जाती हैं। जिन लोगों को ये बीमारियें लग जाती हैं उन का जीवन मृत्यु से भी बुरा हो जाता है। उन के कष्ट का वर्णन नहीं हो सकता। वे जीते-जी चिता में जलते रहते हैं।

परमात्मा फिर भी बड़े कृपालु हैं। उन्होंने ऐसी ओषधियें भी बना रखी हैं जिन से इन भयङ्कर रोगों का भी इलाज हो सकता है। यदि रोगी अब भी संयम से काम ले तो इन ओषधियों से चिकित्सा करा कर वह पुनः स्वास्थ्य-लाभ कर सकता है।

रोगी लोग चिकित्सा कराते भी हैं। एक-दो वार उन्हें चिकित्सा से लाभ भी हो जाता है। पर ऐसे लोग बहुत वार असंयम को नहीं छोड़ पाते। बल्कि वे सोचने लगते हैं कि अब चिन्ता की क्या बात है। अब तो दवा पता लग गई। अब खूब आनन्द करो। इस प्रकार के विचार से वे और अधिक असंयम में पड़ जाते हैं। इस असंयम के फलस्वरूप जब उन्हें दूसरी-तीसरी वार ये बीमारियें लगती हैं तो उन का रक्त इतना दूषित हो चुका होता है कि अब उन पर किसी चिकित्सा का असर नहीं होता। उन्हें अब जीवन-भर इन भयङ्कर रोगों की भट्टी में जलना पड़ता है। वे जीते-जी चिता पर चढ़े रहते हैं। अब तो मर कर ही इन रोगों से उन का छुटकारा होता है। जो लोग असंयम और विषयासक्ति की राह पर बुरी तरह पड़ जाते हैं उन के साथ यह बीतती है।

थोड़ा-सा भी वीर्यनाश हानिकारक ही है

आरम्भ-आरम्भ में विषयासक्ति में फंसे व्यक्ति को जो कोई हानि होती प्रतीत नहीं होती उस का कारण तो जैसा ऊपर कहा गया है, यह है कि शरीर में नया वीर्य भी पैदा हो रहा होता है। पर आगे चल कर ऊपर कहे प्रकार से वीर्यनाश का बुरा परिणाम प्रतीत होने लगता है। असल में तो एक वार का वीर्यनाश भी कुछ-न-कुछ हानि पहुंचाता ही है। एक पत्थर पर हम हथौड़ा मारते हैं। वह एक हथौड़े से नहीं टूटता। बीस और पचास हथौड़ों से भी नहीं टूटता। हम उस पर और हथौड़े मारते हैं। सौवें हथौड़े में जा कर वह टूट जाता है। तो क्या उसे केवल एक सौवें हथौड़े ने ही तोड़ा है ? नहीं। यदि उस ने केवल एक हथौड़े से टूटना होता तो वह पहले हथौड़े से ही टूट जाता। उसे सभी हथौड़ों ने तोड़ा है। प्रत्येक हथौड़ा उस के अवयव ढीले करता गया है। तभी वह सौवें हथौड़े से टूटा है। पहले हथौड़े ने भी उस के अवयव ढीले किये हैं। पहले हथौड़े ने भी उसे कुछ न कुछ तोड़ा है। यही अवस्था वीर्यनाश की है। एक वार का वीर्य-नाश भी हानि पहुंचाता है। वह भी कुछ न कुछ दुर्बलता लाता है। रोज-रोज के वीर्यनाश के परिणाम-स्वरूप हमारी दुर्बलता अधिक बढ़ती जाती है और कुछ काल के पश्चात् वह ऊपर कहे गये रोगों के रूप में प्रकट होती है। एक वार का वीर्य-नाश भी हानिकारक ही है। हमें

संयमी हो कर वीर्य-नाश से सर्वथा ही बचना चाहिये। सोच-विचार कर सन्तान की इच्छा होने पर सन्तान की प्राप्ति के लिये ही वीर्य शरीर से बाहर किया जाना चाहिये। उस के आगे-पीछे नहीं। यदि हम विषयानन्द लेने की भावना से वीर्य-नाश की ओर कुछ भी प्रवृत्त हुए तो विषय का चस्का हमें स्थिर नहीं रहने देगा। वह हमें वीर्य-नाश की राह पर बहुत आगे ले जायेगा। और तब हमें बड़ी भारी हानि उठानी पड़ेगी। फिर उस हानि का प्रतीकार भी नहीं हो सकेगा।

वीर्यनाश करने वाला व्यक्ति मूर्ख व्यापारी जैसा है

विषयानन्द में पड़ कर वीर्य का नाश करने वाले लोग मूर्ख व्यापारी की तरह हैं। एक व्यापारी है। उस ने दिन-रात एक कर के व्यापार किया। व्यापार में उस ने किसी कष्ट को कष्ट नहीं गिना। रातों जागा। हजारों कोस की यात्रायें कीं। देश-विदेश में घूमा-फिरा। और भी न जाने कितने कष्ट और क्लेश सहे। घोर परिश्रम कर के उस ने अपने व्यापार द्वारा घर को हीरे-जवाहरात से भर लिया। अब उन हीरे-जवाहरों से काम लेने का समय आया। वह उस सम्पत्ति का अपने और अपने परिवार के लोगों के सुख-आराम के लिये उपयोग करता। अपने पास-पड़ौस के लोगों को उस से सुख पहुंचाता। कहीं पाठशालायें खुलवा देता। कहीं औषधालय खुलवा देता। कहीं भूखों को रोटी और नंगों को वस्त्र देने के लिये सदावर्त लगवा देता। किसी विद्या की शोध के लिये अनुसन्धानशाला खुलवा देता। राज्य द्वारा चलाये जा रहे लोकोपयोगी कार्यों में सहायता करता। वह ऐसा कुछ न कर के अपने मकान की ऊंची खिड़की में या छत पर बैठ जाता है। अपने हीरे और जवाहरों का ढेर अपने पास लगा लेता है। उन की मुट्ठी और अंजली भरता है और नीचे बह रही गन्दी नाली में फेंक देता है। केवल यह देखने के लिये कि जब वे हीरे और जवाहर नीचे गिरते हैं और उन पर सूर्य की किरणें गिरती हैं तो कैसी रंग-बिरंगी, अद्‌भुत और मनोमोहक चमचमाहट उन में से निकलती है। यह मनोमोहक चमचमाहट देखने का उसे रस है। इस रस में फंस कर वह अपने सब मणि-माणिक्यों को नीचे गन्दी नाली में या धूल में फैंक देता है। उन से उपयोग नहीं लेता।

जैसा यह व्यापारी मूर्ख है ठीक वैसा ही मूर्ख वह व्यक्ति है जो विषयानन्द में पड़ कर अपने वीर्य का नाश करता रहता है। वीर्य का मनुष्य के जीवन में बड़ा कीमती स्थान है। हमारा स्वास्थ्य और हमारे जीवन की सारी उन्नति तथा जीवन के सब सुख-आराम वीर्य पर ही निर्भर करते हैं।

ऊपर जीवन की जिन शक्तियों का सामूहिक नाम हम ने "जीवन-प्रकाश" रखा है वे सब वीर्य की सत्ता पर ही निर्भर करती हैं। हमारा जीवन ही वीर्य के आधार पर है। शिवसंहिता में कहा है—"वीर्य-बिन्दु को गिराते रहने से मृत्यु हो जाती है और वीर्य-बिन्दु की रक्षा करते रहने से जीवन बना रहता है[1]।" आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक में कहा है—"भोजन, निद्रा और ब्रह्मचर्य की तिपाई पर शरीर का स्वास्थ्य टिका हुआ है[2]।" जीवन के लिये वीर्य की इतनी अधिक कीमत होने के कारण ही बोल-चाल की भाषा में लोग वीर्य को "मणि" कहते हैं। सचमुच वीर्य से बढ़ कर "मणि" पदार्थ—मूल्यवान् पदार्थ—हमारे लिए दूसरा कोई नहीं है। जिस पर हमारा जीवन ही निर्भर करता है उस से बढ़ कर "मणि"—उस से बढ़ कर मूल्यवान् पदार्थ—और कौन सा हो सकता है? मणियों की भांति वीर्य बड़ा दुर्लभ पदार्थ है। चालीस दिन तक हम जो भांति-भांति का पौष्टिक भोजन करते हैं उस से हमारे शरीर में एक तोला ही वीर्य बन पाता है। इतना दुर्लभ है वीर्य! इस वीर्य नामक मणि को विषयानन्द में पड़ कर नष्ट करने वाला व्यक्ति उक्त मूर्ख व्यापारी जैसा ही है। भांति-भांति के पौष्टिक भोजन किये। उन्हें पचाने के लिये व्यायाम किया। इस से वीर्य नामक कीमती रस हमारे शरीर में उत्पन्न हुआ। उसे अपने शरीर में ही खपा कर उस से काम लेने का समय आया। हम उसे अपने शरीर में संभाल कर अपने जीवन के ऊपर उल्लिखित प्रकाश को बढ़ाते—अपनी सब तरह की उन्नति करते और सुख-आराम से रहते। अपने उन्नत और शक्ति-सम्पन्न जीवन से दूसरों को लाभ पहुंचाते। उत्तम सन्तान पैदा कर के समाज और देश की सेवा करते। अपना यह लोक और परलोक बनाते। यह सब कुछ न कर के हम विषयानन्द के रस में फंस जाते हैं। इस रस में फंस कर अपने जीवन की मणि को व्यर्थ में बाहर फेंकते रहते हैं।

चमचमाहट के रस में फंस कर हीरे-जवाहरात को फैंकने वाला व्यापारी तो केवल अपनी भौतिक सम्पति को ही नष्ट करता है। परन्तु विषयानन्द के रस में फंस कर वीर्य को नष्ट करने वाला व्यक्ति तो अपने

---

१. मरणं बिन्दु-पातेन जीवनं बिन्दु-धारणात्। शिवसंहिता।

२. त्रय उपस्तम्भा इति—आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति। एभिस्त्रिभिर्युक्तियुक्तैरुपस्तब्धमुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनु वर्तते यावदायुः संस्कारात्।

चरक० सूत्रस्थान, सिस्र्षणीय एकादश अध्याय।

जीवन की सम्पत्ति को ही नष्ट कर बैठता है। फिर विषयानन्द भी कैसा ? जो कि क्षणिक है---कुछ क्षणों के लिये ही रहता है, स्थायी नहीं होता। जो कि तामसिक है---जिस के पश्चात् मन में प्रफुल्लता, हर्ष और उत्साह नहीं रहते---जिस के पश्चात् शरीर और मन में थकावट और सुस्ती पैदा होती है, जिस के पश्चात् मन में विचार उठता है कि ऐसा कर के कुछ अच्छा तो नहीं किया। ऐसे क्षणिक और तामसिक शारीरिक आनन्द के रस में फंस कर अपनी जीवनी-शक्ति को नष्ट करने वाला व्यक्ति मूर्ख नहीं तो और क्या है ?

वीर्य की रचना-शक्ति

यह कीमती पदार्थ नष्ट करने के लिये नहीं हैं। यह बड़ा कीमती है और अत एव बड़ा संभाल कर रखने के योग्य है। इस के कीमतीपन का इसी से अनुमान लगा लीजिये कि यह हमें हमारे जैसी सन्तान पैदा कर के देने की शक्ति रखता है। जब हम इसे अपने शरीर में जज़्ब कर लेते हैं, खपा लेते हैं, तो यह ऊपर वर्णित हमारे जीवन के प्रकाश को बढ़ाता है। हमारी कान्ति बढ़ती है। हमारी इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। हमारा शरीर नीरोग और बलवान् बनता है। हमारी स्मृति-शक्ति बढ़ती है। हमारी तर्क-वितर्क करने की, ऊहापोह करने की, नये-नये विचार करने की शक्ति बढ़ती है। हम काम करते हुए थकते नहीं। कोई भी काम सफलता के साथ करने की शक्ति हमारे अन्दर आ जाती है। हम अच्छे व्यापारी, वकील, अध्यापक, सैनिक, शासक, व्याख्याता, कवि, लेखक, चित्रकार और गायक बन सकते हैं। वीर्य-रक्षा के कारण शक्ति का स्रोत हमारे अन्दर होने के कारण हम कुछ भी कर और बन सकते हैं। और सोच-समझ कर शरीर से बाहर किया हुआ वीर्य हमारे जैसी सन्तान हमें देने की शक्ति रखता है। यह अद्भुत रचना-शक्ति (Creative energy) है वीर्य में ! शरीर के भीतर खपाया हुआ वीर्य हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का निर्माण करता है और सोच-समझ कर शरीर से बाहर किया हुआ वीर्य हमारे जैसे एक नये मनुष्य का निर्माण कर के देता है। वीर्य से बढ़ कर कीमती पदार्थ और कौन सा हो सकता है ?

भोले युवक और युवतियें सुन्दरता के पीछे मरते हैं। शरीर की सुन्दरता भी वीर्य-रक्षा से ही उत्पन्न होती है। युवक और युवति का जब तक विवाह नहीं हुआ होता तब तक उन के चेहरे पर जो कान्ति और सुन्दरता होती है वह विवाह के कुछ समय के पश्चात् नहीं रहती। विवाहित जीवन में वीर्य के नष्ट होते रहने से उन की सुन्दरता भी नष्ट होने लगती है।

सौन्दर्य का मूल कारण भी वीर्य और तज्जनित स्वास्थ्य ही है। सौन्दर्य के अभिलाषी लोगों को भी वीर्य-रक्षा का जीवन बिताना चाहिये।

जिस वीर्य की इतनी महिमा है वह वीर्य-मणि नष्ट करने की वस्तु नहीं है, वह तो बड़े प्रयत्न और सावधानी से संभाल कर रखने की वस्तु है।

सन्तानोत्पत्ति के लिये ही वीर्य शरीर से बाहर होना चाहिये

धर्म-शास्त्रों में केवल सन्तान-प्राप्ति की इच्छा से वीर्य को शरीर से बाहर करने की आज्ञा है। जब माता-पिता सोच-समझ कर अपने घर में कोई सन्तान बुलाना चाहें तभी उन्हें वीर्य अपने शरीर से बाहर करना चाहिये। उस अवस्था में वीर्य को अपने शरीर से बाहर करने में कोई बुराई नहीं है। उस अवस्था में वीर्य को शरीर से बाहर करना बड़ा पवित्र और धर्म का काम है। वह तो अवश्य किया जाना चाहिये। ब्राह्मण-वर्ण के माता-पिता सन्तान पैदा कर के राष्ट्र को अच्छे ब्राह्मण देने का प्रयत्न करते हैं जो उन के पीछे भी ज्ञान-विज्ञान तथा न्याय, सत्य और धर्म का प्रचार करते रह कर राष्ट्र की सेवा करेंगे और उसे उन्नत करेंगे। क्षत्रिय वर्ण के माता-पिता सन्तान पैदा कर के राष्ट्र को अच्छे क्षत्रिय देने का प्रयत्न करते हैं जो उन के पीछे भी राष्ट्र की रक्षा का काम करेंगे और इस काम में अपना रक्त भी बहा देने को उद्यत रहेंगे। और वैश्य वर्ण के माता-पिता सन्तान पैदा कर के राष्ट्र को अच्छे वैश्य देने का प्रयत्न करते हैं जो उन के पीछे भी भांति-भांति के व्यापार-व्यवसाय करते रह कर राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ा कर उस की सेवा करेंगे। इस प्रकार समाज और राष्ट्र को चलाते रहने के लिये उसे अच्छे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पैदा कर के देने से बढ़ कर पवित्र और धर्म का काम दूसरा कौन सा हो सकता है? वह तो बड़ा ही पुण्य का कर्म है। इस पुण्य के काम के लिये माता-पिता अपने शरीर से वीर्य को बाहर कर सकते हैं। उस में न कोई दोष है और न कोई लज्जा की बात है। वह तो बड़ी प्रसन्नता से करने का, पुण्य और धर्म का, लोकोपकारी कार्य है।

इस के अतिरिक्त किसी और समय में केवल विषयानन्द के लिये वीर्य को अपने शरीर से बाहर करना धर्मशास्त्रों में वंजित किया गया है। वह बुरा काम है। उस से अपनी भी हानि होती है और समाज की भी। वैसा कर के हम अपनी क्षति तो करते ही हैं, उस के साथ ही हम जिन के साथ मिल कर वह बुराई करते हैं उन्हें भी दूषित करते हैं—उन्हें भी विषयासक्ति और लम्पटता की राह पर डाल देते हैं। फिर वे भी इसी प्रकार अपनी हानि करने लगते हैं और दूसरों को बिगाड़ने लगते हैं। यह चक्र आगे-आगे चलता रहता है।

इस प्रकार हम अपनी भी हानि करते हैं और समाज की भी। अतः यह पाप और अधर्म का काम है। इस से बच कर रहना चाहिये।

सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य के अतिरिक्त व्यक्ति को किसी अवस्था में भी वीर्य अपने शरीर से बाहर नहीं जाने देना चाहिये। लोभी और कंजूस व्यक्ति की भांति उसे बड़े यत्न से संभाल कर रखना चाहिये और अपने शरीर में ही खपाते रहना चाहिये।

२

ब्रह्मचर्य-साधन के उपाय

व्यक्ति संयमी हो कर ब्रह्मचारी कैसे रह सकता है और अपने वीर्य की रक्षा कैसे कर सकता है शास्त्रों में इस के अनेक उपाय बताये गये हैं। जिन लोगों ने ब्रह्मचारी रहने का प्रयत्न किया है उन्होंने भी अपने अनुभव के आधार पर इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। इस सम्बन्ध में यहां बहुत विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है। सारे उपायों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। (१) एक मानसिक उपाय, और (२) दूसरे भौतिक या शारीरिक उपाय। इन में मानसिक उपाय मुख्य हैं और शारीरिक उपाय गौण हैं। शारीरिक उपाय मानसिक उपायों के सहायक मात्र हैं। मानसिक उपाय पूर्ण हों तो शारीरिक उपायों में कमी रह जाने पर भी काम चल सकता है। परन्तु मानसिक उपायों में त्रुटि हो तो शारीरिक उपायों के पूर्ण पालन से भी काम नहीं चल सकता।

वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में वर्णित चार उपाय

अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड का पांचवां सूक्त ब्रह्मचर्य-सूक्त कहलाता है। इस सूक्त में ब्रह्मचर्य की महिमा और ब्रह्मचारी रहने के उपायों का वर्णन किया गया है। सूक्त के चौथे मन्त्र[1] में ब्रह्मचर्य के चार साधनों की ओर निर्देश किया गया है। इन में दो साधन मानसिक हैं और दो साधन शारीरिक हैं। मन्त्र कहता है कि जो व्यक्ति ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे (१) अपने मन में नये-नये ज्ञान-विज्ञान सीखते रहने की इच्छारूप अग्नि सदा जला कर रखनी चाहिये। और पृथिवी से ले कर सूर्य तक के, तीनों लोकों में पाये जाने वाले, सब पदार्थों को उस अग्नि में समिधा बना कर डालते रहना चाहिये। अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ लोक में जितने भी पदार्थ हैं उन के सम्बन्ध की भिन्न-भिन्न विद्यायें सीखने में उसे लगे रहना चाहिये। तृण से ले कर परमात्मा

---

१. इयं समित् पृथिवि द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥ अथर्व. ११. ५. ४।
इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" में देखिये।

तक के जितने भी पदार्थ विश्व में हैं उन सब से सम्बन्ध रखने वाली भांति-भांति की विद्यायें उसे सीखते रहना चाहिये। उसे अपना मन कभी खाली नहीं रखना चाहिये। खाली और निठल्ले मन में ही गन्दे विचार पैदा होते हैं। उसे हर समय कुछ-न-कुछ नई बात सीखते रहना चाहिये। जो इस प्रकार अपने मन को हर समय कुछ-न-कुछ सीखने में, कुछ-न-कुछ पढ़ने लिखने में, कुछ-न-कुछ नये ज्ञान का संग्रह करने में लगाये रखेगा, अपने मन को निकम्मा नहीं रहने देगा, उस के लिये ब्रह्मचारी रह सकना बड़ा आसान हो जायेगा।

जो व्यक्ति ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे (२) मेखलाधारी होना चाहिये। उस में कटिबद्धता की, तत्परता की, चौकन्नेपन की, मुस्तैदी की और जागरूता (Alertness) की वृत्ति रहनी चाहिये। उस के पास आलस्य, सुस्ती, तन्द्रा और प्रमाद की वृत्ति नहीं फटकनी चाहिये। उसे सदा होशियार, सावधान और फुर्तीला रहना चाहिये। जब वह चले तो ऐसे हलके और फुर्तीलेपन से चले कि प्रतीत हो वह धरती पर न चल कर ऊपर-ऊपर चल रहा है। जो व्यक्ति इस प्रकार सुस्ती, ढीलेपन, आलस्य, तन्द्रा और प्रमाद की वृत्ति से प्रतिक्षण दूर रहता है उस के लिये ब्रह्मचारी रहना सुगम हो जाता है। जो आलसी और सुस्त हो कर बिस्तरे पर ही लेटे रहते हैं वे ब्रह्मचारी नहीं रह सकते।

जो ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे (३) प्रतिदिन शारीरिक श्रम करना चाहिये। भांति-भांति के व्यायाम करने चाहियें और खेल खेलने चाहियें। खेत में काम करना चाहिये या कोई और परिश्रम का काम करना चाहिये। शारीरिक परिश्रम से शरीर का रक्त शुद्ध होता है और शरीर में बल बढ़ता है। भूख लगती है। खाया-पीया पचता है और नया रक्त बनता है। बलिष्ठ शरीर और शुद्ध रक्त वाला व्यक्ति अपने मन को भी वश में रख सकता है। दूषित रक्त वाला, रोगी और दुर्बल व्यक्ति मन को भी वश में नहीं रख सकता। "स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहा करता है[१]" अंग्रेज़ी की इस कहावत में बड़ी सचाई है। शुद्ध रक्त और स्वास्थ्य का मन के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध है। शारीरिक श्रम में "प्राणायाम" को सम्मिलित समझना चाहिये। रक्त को शुद्ध करने में और शरीर को स्वस्थ रखने में प्राणायाम का बड़ा महत्पपूर्ण स्थान है। व्यायाम की भी बड़ी उपयोगिता इसी लिये है कि व्यायाम के समय सांस तेज चल कर एक प्रकार का प्राणायाम हो रहा होता है। जो

---

१. A sound mind lives in a sound body.

व्यक्ति किसी भी प्रकार का शारीरिक श्रम नहीं करता वह ब्रह्मचारी नहीं रह सकता ।

जो व्यक्ति ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे (४) तपस्वी होना चाहिये । उसे अपना जीवन सादा और कष्ट-सहिष्णु रखना चाहिये । उस में शान-शौकत और विलास की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये । उसे सादा और सात्त्विक भोजन करना चाहिये । जीभ के स्वाद में उसे नहीं पड़ना चाहिये । उसे सादे और बिना तड़क-भड़क के सात्त्विक रंग के वस्त्र पहिनने चाहियें । बहुत पतले, मुलायम और चिकने स्पर्श वाले कपड़े उसे नहीं पहिनने चाहियें । उसे त्वचा के स्पर्श-रस में नहीं पड़ना चाहिये । उसे केशों का सिंगार नहीं करना चाहिये और न ही किसी और प्रकार की सजावट में पड़ना चाहिये । उसे साफ-सुथरा और स्वच्छ तो रहना चाहिये परन्तु साज-सिंगार, तड़क-भड़क और विलासिता में नहीं पड़ना चाहिये । उसे गरमी-सरदी, वर्षा-धूप आदि द्वन्द्वों को भी सहने की आदत होनी चाहिये । यह तपस्विता का जीवन ब्रह्मचारी रहने के लिये बड़ा आवश्यक है । साज-सिंगार और विलासिता का रहन-सहन मन में चंचलता पैदा करता है और इन्द्रियों को विषयों की ओर ढकेलता है । साज-सिंगार और विलासिता के रहन-सहन वाला व्यक्ति कभी ब्रह्मचारी नहीं रह सकता ।

जो व्यक्ति ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे मन्त्र में वर्णित इन चारों उपायों का अवलम्बन करना चाहिये । मन्त्र में बताये गये पहले दो उपाय मानसिक हैं और पिछले दो उपाय शारीरिक हैं । इन चारों उपायों का जितना चाहे विस्तार कर सकते हैं । शास्त्रों में जिन उपायों का उल्लेख किया गया है वे वेद के इन चार उपायों की व्याख्या-मात्र हैं । ऋषि दयानन्द और महात्मा गांधी जी आदि ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले जिन लोगों ने अपने अनुभव के आधार पर जिन उपायों का उल्लेख किया है वे भी मन्त्र में कहे गये उपर्युक्त चार उपायों की व्याख्यामात्र ही हैं ।

ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक कुछ मानसिक और शारीरिक उपायों की ओर नीचे निर्देश किया जाता है ।

ब्रह्मचर्य-साधन के मानसिक उपाय

१. मन में काम-वासना[1] सम्बन्धी शृङ्गार के विचार नहीं उत्पन्न होने देने

---

१. **मनु ने ब्रह्मचारी के लिये छोड़ने योग्य बातों का परिगणन करते हुए काम के विचारों से दूर रहने का भी उल्लेख किया है—**

"कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ।" मनु. २. १७८ ।

चाहियें। बाहर की परिस्थिति हमारी पांचों इन्द्रियों के द्वारा हमारे आत्मा पर अच्छे या बुरे प्रभाव डाल कर हमारे मन में अच्छे या गन्दे विचार उत्पन्न करती है। हम जहां रहें वहां हमें अपनी परिस्थिति सावधानी से ऐसी बना कर रखनी चाहिये कि उस से हमारी इन्द्रियों के द्वारा हमारे आत्मा पर जो प्रभाव पड़ें वे मन में अच्छे और पवित्र विचार पैदा करने वाले ही हों। हमारी पांचों इन्द्रियों का जिन पदार्थों के साथ सम्बन्ध प्रति दिन पड़ता है उन्हें हमें इस प्रकार चुन कर रखना चाहिये कि उन के सम्बन्ध से हमारे आत्मा पर जो प्रभाव पड़े वह सात्त्विक प्रभाव हो, राजस और तामस प्रभाव न हो। उस प्रभाव से हमारे मन में अच्छे और पवित्र विचार ही उठते हों। गन्दे और अपवित्र विचार न उठते हों।

२. हमें अपनी संगति अच्छी रखनी चाहिये। जैसी हमारी संगति हुआ करती है वैसे ही विचार हमारे मन में उठा करते हैं और वैसे ही हम बन जाया करते हैं। अच्छी और पवित्र संगति से हमारे मन में अच्छे और पवित्र विचार उठेंगे और हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना सुगम हो जायेगा। गन्दी और अपवित्र संगति से हमारे मन में गन्दे और अपवित्र विचार उठेंगे और हमारे लिये ब्रह्मचर्य का पालन कर सकना असंभव हो जायेगा। हमारी संगति तीन तरह की हुआ करती है:—

(i) एक तो जीवित जागृत मनुष्यों की संगति हमें मिला करती है। हमारे दोस्त-मित्र, संगी-साथी जैसे होंगे वैसे ही हम भी बन जायेंगे। यदि हम ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं तो अपने संगी-साथी ऐसे बनाने चाहियें जिन्हें ब्रह्मचर्य से प्रेम हो, जो कभी काम-वासना को भड़काने वाली बातें न करते हों, जो गन्दा हंसी-मजाक और मखौल न करते हों, जो गन्दे गीत, श्लोक और गजलें न गाते हों, जो श्रृङ्गाररस की कहानियें न कहते हों, जो सदा ऊंचा उठाने वाली और पवित्र बनाने वाली बातें ही करते हों, गन्दी और अपवित्र बातों से जिन्हें घृणा हो। ऐसे अच्छे संगी-साथियों की संगति से हमारे मन में अच्छे और पवित्र विचार ही उठेंगे और हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना आसान हो जायेगा। यदि गन्दे लोगों की संगति हम ने रखी तो हम ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकेंगे।

(ii) दूसरी हमारी संगति पुस्तकों की होती है। हम जैसी पुस्तकें पढेंगे हमारे विचार भी वैसे ही बनेंगे और हम भी वैसे ही बन जायेंगे।

हमें प्रेम-कथाओं से भरे हुए काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानी की पुस्तकें नहीं पढ़नी चाहियें। हमें ऐसे काव्य आदि ही पढ़ने चाहियें जो मन में पवित्रता के विचार पैदा करते हों, जो हमें वीर, साहसी, त्यागी, सत्यप्रिय, उदार, दयालु, परोपकारी, तपस्वी और ज्ञानवान् बनने की प्रेरणा देते हों। हमें महापुरुषों के जीवनचरित्र, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और धर्म के ग्रन्थ ही अधिकतर पढ़ने चाहियें जिन से हमारे ज्ञान की भी वृद्धि हो और हमारे विचार पवित्र हो कर हमें अपना जीवन पवित्र बनाने की प्रेरणा भी हो। हलका साहित्य हमें नहीं पढ़ना चाहिये। कभी दिल-बहलाव के लिये हमें हलका साहित्य पढ़ना ही हो तो वह ऐसा होना चाहिये जो हमारे विचारों को मैला और अपवित्र बनाने वाला न हो। पवित्र विचार देने वाला साहित्य पढ़ने से हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना सहज हो जायेगा। गन्दे विचार पैदा करने वाला साहित्य पढ़ने से हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना असंभव रहेगा।

(iii) तीसरी हमारी संगति खेल-तमाशों और घरों में लगाये जाने वाले चित्रों की होती है। हम जैसे खेल-तमाशे देखेंगे हमारे विचार भी वैसे ही बनेंगे और हम भी वैसे ही बन जायेंगे। इस लिये हमें काम-वासना को भड़काने वाले गन्दे सिनेमा और थियेटर नहीं देखने चाहियें। जो सिनेमा और थियेटर मन में अच्छे और पवित्र विचार पैदा करते हों वे ही हमें देखने चाहियें, दूसरे नहीं। हम अपने घरों में जैसे चित्र टांगेंगे उन के द्वारा भी हमारे मन में वैसे ही विचार जागेंगे और हम उन विचारों के अनुसार ही बन जायेंगे। अच्छे चित्र हमारे मन में अच्छे विचार पैदा करेंगे और गन्दे चित्र गन्दे विचार पैदा करेंगे। हमें अपने घरों में वासना को जागृत करने वाले स्त्री-पुरुषों की नग्न अथवा अर्धनग्न अवस्था के चित्र, सिनेमाओं की नर्तकियों के हाव-भाव भरे और तड़क-भड़क वाले चित्र नहीं लगाने चाहियें। हमें महापुरुषों के, वीरों के, साधु-सन्तों के, वैज्ञानिकों के और परोपकारी नेताओं के चित्र ही अपने घरों में लगाने चाहियें। जिन से हमें उन जैसा बनने की इच्छा हो। अथवा हमें प्राकृतिक दृश्यों के, झरनों के, बरफ़ से लदी पर्वतों की चोटियों के, देवदारुओं की श्रेणियों से ढके हुए गिरि-शृङ्गों के, झीलों के, समुद्रों की उत्ताल तरंगों के, बादलों की

घटाओं के, इन्द्रधनुषों के, सिंह और घोड़े आदि तेजस्वी पशुओं के, कमल और गुलाब आदि फूलों के चित्र ही अपने रहने, सोने, खाने, उठने-बैठने और पढ़ने के स्थानों में लगाने चाहियें। जिन्हें देख कर उन के रचयिता परमात्मा की विभूति और महिमा के विचार हमारे मन में उत्पन्न हों और हम प्रभु के आगे नतमस्तक हों तथा उन के गुणों का चिन्तन करें जो चिन्तन हमें पवित्र बना देगा। अच्छे और पवित्र विचार मन में उत्पन्न करने वाले खेल-तमाशे और सिनेमा-थियेटर देखने से हमें अच्छा और पवित्र बनने की प्रेरणा होगी। घरों में अच्छे चित्र टांगने से भी यही प्रेरणा मिलेगी। और हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना सुगम हो जायेगा। गन्दे और अपवित्र विचार जगाने वाले खेल-तमाशे और सिनेमा-थियेटर देखने तथा घरों में गन्दे चित्र लगाने से हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना कठिन हो जायेगा। क्योंकि सिनेमा-थियेटरों में प्रायः गन्दे खेल-तमाशे और चित्र ही दिखाये जाते हैं इस लिये सिनेमा-थियेटरों का न देखना ही अच्छा है।

३. मन को कभी खाली और निठल्ला नहीं रहने देना चाहिये। हर समय उसे किसी-न-किसी काम में लगाये रखना चाहिये। कुछ-न-कुछ पढ़ते-लिखते रहो। कुछ-न-कुछ करते रहो। मन के सामने जब कुछ अच्छा और उपयोगी काम करने को नहीं रहता तभी वह गन्दे विचारों और गन्दे कामों की ओर जाता है। अंग्रेजी की कहावत है कि "खाली मन शैतान की दुकान होता है[1]।" इस कहावत में बड़ी गहरी सचाई है। अतः जो ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे कभी अपने मन को निकम्मा नहीं रहने देना चाहिये। सदा उसे किसी-न-किसी अच्छे और उपयोगी काम में लगाये रखना चाहिये। कलकत्ते में जब युवक अश्विनीकुमारदत्त ने, जो आगे जा कर बंगाल के प्रसिद्ध नेता बने, ऋषि दयानन्द से पूछा कि महाराज आप पूर्ण और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने में समर्थ कैसे हो गये हैं—क्यों आप के मन में कभी भी कामवासना-सम्बन्धी विचार नहीं उठते? तो ऋषि ने यही उत्तर दिया था कि मैं अपने मन को कभी भी खाली नहीं रहने देता। सदा उसे किसी-न-किसी काम में लगाये रखता हूं। मैं या तो वेदभाष्य और वेदाङ्गप्रकाश आदि ग्रन्थ लिख-लिखवा रहा होता हूं, या पत्र-व्यवहार में लगा होता हूं, या व्याख्यान

---

१. A vacant mind is a Satan's workshop.

दे रहा होता हूं और शास्त्रार्थ कर रहा होता हूं, या डेरे पर आए हुए जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान कर रहा होता हूं, या कुछ पढ़ रहा होता हूं, और जब कोई और काम करने को नहीं होता है तब मैं या तो ध्यानावस्थित हो कर योगसमाधि में बैठ जाता हूं अथवा ओंकार का जाप करने में लग जाता हूं। मैं प्रत्येक क्षण किसी-न-किसी काम में लगा रहता हूं। मैं अपने मन को खाली नहीं रहने देता। काम के विचारों को मेरे मन का फाटक सदा बन्द मिलता है। इसी से मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर सका हूं। ऋषि दयानन्द अश्विनीकुमार को जो उत्तर दिया था वह सचमुच ब्रह्मचर्य-पालन की कुञ्जी है। जो ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे अपने मन को खाली न रहने दे कर प्रति क्षण किसी-न-किसी अच्छे और उपयोगी काम में लगाए रखना चाहिए।

४. ब्रह्मचारी रहना चाहने वाले पुरुष को स्त्रियों के रूपादि वर्णन-विषयक बातें नहीं सुननी चाहियें, स्वयं स्त्रियों-विषयक बातें नहीं करनी चाहियें, स्त्रियों के साथ खेलना नहीं चाहिये, वासना में भर कर स्त्रियों को देखना नहीं चाहिये, स्त्रियों के साथ एकान्त में बातें नहीं करनी चाहियें, स्त्री से मिलने का संकल्प मन में नहीं उठने देना चाहिये, स्त्री से मिलने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये और स्त्री से मिल कर विषय-भोग नहीं करना चाहिये। ब्रह्मचारी रहना चाहने वाली स्त्री को यही व्यवहार पुरुषों के प्रति रखना चाहिये। यह आठ प्रकार का मैथुन[1] कहलाता है। इस आठ प्रकार के मैथुन से ब्रह्मचारी रहना चाहने वालों को सदा बच कर रहना चाहिये।

५. जो ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे ईश्वर-भक्त होना चाहिये। उसे दोनों

---

१. श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥ दक्षस्मृति ७. ३२. ३३।

अर्थात् "स्त्रियों-सम्बन्धी बातें सुनना, स्त्रियों-विषयक बातें करना, स्त्रियों के साथ खेलना, स्त्रियों को देखना, उन से एकान्त में बातें करना, मन में स्त्री-संग करने की बात सोचना, स्त्री-संग करने का प्रयत्न करना और स्त्री-संग कर लेना—यह आठ प्रकार का मैथुन कहलाता है।" मनु ने भी ब्रह्मचारी के लिये वर्जनीय बातों का परिगणन करते हुये ब्रह्मचारी के लिये स्त्रियों के सम्पर्क से सदा बचते रहने का उल्लेख किया है—"वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।" (मनु० २. १७७), "स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।" (मनु० २. १७९), ब्रह्मचारी रहना चाहने वाले पुरुष के लिये जैसे स्त्रियों के सम्पर्क से बचते रहना आवश्यक है वैसे ही ब्रह्मचारिणी रहना चाहने वाली स्त्री के लिये पुरुषों के सम्पर्क से बचते रहना आवश्यक है।

समय ध्यान-मग्न हो कर सन्ध्योपासना और अग्निहोत्रादि नित्य कर्म करने चाहियें। उपासना के समय ईश्वर के पवित्र गुणों का चिन्तन कर के स्वयं भी वैसा ही पवित्र बनने का प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर की श्रद्धापूर्वक की हुई भक्ति और उपासना मन में बड़ा शान्त और पवित्र वातावरण पैदा कर देती है। मन की इस अवस्था में गन्दे और अपवित्र विचार नहीं उठते। इस से ब्रह्मचर्य के पालन में बड़ी सहायता मिलती है। उपासना के समय भगवान् से पवित्र रहने और ब्रह्मचर्य का पालन कर सकने की शक्ति मांगनी चाहिये। जो व्यक्ति अपने आप को पवित्र बनाने का पूरा प्रयत्न करता है और उस के अनन्तर प्रभु से पवित्र रहने की शक्ति की श्रद्धापूर्वक याचना करता है तो ऐसे प्रयत्नशील श्रद्धालु भक्त पर प्रभु कृपा करते हैं। प्रभु उस के आत्मा में शक्ति का संचार कर देते हैं। प्रभु से पाई शक्ति के आधार पर उस के लिये वासना को जीत कर पवित्रता, संयम और ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना बड़ा आसान हो जाता है। ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहने वाले के लिये प्रभु का भक्त और उपासक होना बड़ा आवश्यक है।

६. ब्रह्मचारी रहने के लिये आवश्यक सब साधनों का प्रयोग तो भली-भांति सावधानी के साथ करते रहना चाहिये। पर यदि कभी स्वप्नदोषादि में वीर्य-स्खलन हो जाये तो उस को ले कर बहुत चिन्तित और दुःखी नहीं रहना चाहिये। चिन्ता उस की वासना को और गहरा कर देगी। वह वासना पुनः हानि पहुंचायेगी। हमें उधर से ध्यान हटा कर उसे सर्वथा भुला देना चाहिये। और प्रसन्न रहना चाहिये। किन्तु ब्रह्मचर्य-पालन के लिये आवश्यक साधनों के सेवन में और अधिक तत्परता से लग जाना चाहिये।

ब्रह्मचर्य-साधन के भौतिक उपाय

१. प्रतिदिन व्यायाम करना चाहिये। प्रतिदिन सन्ध्योपासना के समय दोनों काल प्राणायाम[1] करना चाहिये। व्यायाम और प्राणायाम से रक्त शुद्ध

---

१. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु० ६. ७१।

अर्थात् "जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण आदि धातुओं के मल जल कर नष्ट हो जाते हैं और वे निर्मल हो जाती हैं वैसे ही प्राणायाम के द्वारा मन आदि इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं और वे निर्मल और पवित्र बन जाती हैं।"

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। योगदर्शन १. ३४।

अर्थात् "प्राणायाम के द्वारा मन पवित्र हो कर वश में हो जाता है।"

होता है। शरीर सबल और स्वस्थ रहता है। भूख लगती है। खाया-पीया अच्छी तरह पच जाता है। शरीर में नया और शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में बनता है। शुद्ध रक्त वाले और स्वस्थ शरीर में रहने वाला मन भी शुद्ध और स्वस्थ रहता है। उस में गन्दे विचारों को जीतने और अपने आप को वश में रखने की शक्ति आ जाती है। ब्रह्मचर्य के पालन के लिये व्यायाम और प्राणायाम बड़े सहायक हैं।

२. मांस, मदिरा, अण्डे, लाल मिर्च, खटाई, प्याज, और लहसुन, आदि राजसिक और तामसिक[1] भोजनों और वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिये।

---

१. दूसरे, तीसरे और चौथे उपायों में जो कुछ लिखा गया है मनु के निम्न श्लोकों में उसकी ओर इस प्रकार संकेत किया गया है--

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥ मनु. २. १७७--१७९।

अर्थात्, "ब्रह्मचारी शराब न पीवे, मांस न खावे, गन्ध न लगावे, माला न पहिने, बहुत रसीले पदार्थ न खावे. स्त्रियों के संग में न रहे, खट्टे पदार्थों का सेवन न करे और प्राणियों की हिंसा न करे।" "अङ्गों पर तैल आदि का मर्दन न करे, आंखों में सुरमा न लगावे, जूता न पहिने, छाता न लगावे, काम, क्रोध, लोभ को छोड़ देवे, नृत्य न करे और गावे-बजावे नहीं (अर्थात् विषयासक्ति के गीत आदि न गावे-बजावे)।" "जूआ न खेले, लोगों के साथ व्यर्थ विवाद न करे, किसी की निन्दा न करे, झूठ न बोले, काम-वासना से स्त्रियों को न देखे, स्त्रियों का आलिंगन न करे और किसी का अपकार न करे।"

इसी भांति गीता में भी राजसिक और तामसिक भोजनों का सेवन निषिद्ध बताया है। वहां कहा है--

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ गीता १७. ९. १०.।

अर्थात् "कड़वा, खट्टा, बहुत गरम, तीखा, रूखा और दाहजनक भोजन रजोगुणी लोगों को अच्छा लगता है, ऐसे भोजन दुःख, शोक और रोग पैदा करते हैं, इन्हें नहीं खाना चाहिये।" "पुराना, जिसका रस सूख गया है, सड़ा हुआ, बासी, जूठा और अपवित्र (मांस-अण्डे आदि का) भोजन तमोगुणी लोगों को अच्छा लगता है, ऐसा

इस प्रकार की चीजों का सेवन करने से मन में राजसिक और तामसिक वृत्तियें पैदा होती हैं। ये वृत्तियें मन को चंचल बनाती हैं। जिस के कारण मन को संयम में रख सकना कठिन हो जाता है।

३. गाय का दूध, फल, सब्जी और अनाजों का ही सेवन करना चाहिये। ये भोजन सात्त्विक हैं। इन के सेवन से मन में सात्त्विक वृत्तियें पैदा होती हैं। सात्त्विक वृत्ति मन में चंचलता नहीं पैदा होने देती। उस से संयम में रह सकना सुगम हो जाता है। फलों आदि में भी जो सात्त्विक न हों तथा अत्यन्त खट्टे और कच्चे हों, उन का सेवन नहीं करना चाहिये।

४. रहन-सहन, खान-पान और वस्त्र-परिधान सब सादा रखना चाहिये। साज-सिंगार आदि विलासिता के जीवन से दूर रहना चाहिये। साज-सिंगार, शान-शौकत और विलासिता का जीवन मन में चंचलता उत्पन्न करता है और इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ाता है। साज-सिंगार, शान-शौकत और तड़क-भड़क से रहने की विलासिता की प्रवृत्ति ब्रह्मचर्य के लिये बड़ी विघातक है। साफ-सुथरे और स्वच्छ तो रहो पर साज-सिंगार की प्रवृत्ति को अपने पास मत फटकने दो। इस प्रवृत्ति से बचना ब्रह्मचारी रहना चाहने वाले के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जो ऐसा नहीं करते उनके लिये ब्रह्मचारी रह सकना कठिन है।

५. भोजन सदा भूख से थोड़ा-सा कम खाना चाहिये। स्वाद में पड़ कर भूख से अधिक भोजन तो कभी भी नहीं करना चाहिये। भूख से अधिक खाया हुआ भोजन अच्छी तरह पचता नहीं है। अन्तड़ियों पर उसे पचाने में बहुत ज़ोर पड़ता है। वे कमजोर पड़ जाती हैं। आगे चल कर उन की भोजन को पचाने और मल को बाहर करने की शक्ति मन्द पड़ जाती है। कब्ज़ रहने लगती है। या बदहज़मी रहने लगती है। शरीर में मल इकट्ठे होने लगते हैं। रक्त अशुद्ध हो जाता है। शरीर रोगी रहने लगता है। शरीर रजोगुणी और तमोगुणी हो जाता है। मन में राजसिक और

भोजन नहीं करना चाहिये।" गीता में सात्त्विक भोजन खाने का ही विधान है। वहां कहा है:—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ गीता १७. ८।

अर्थात् "आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, मधुर, स्निग्ध, जल्दी न बिगड़ने वाले और मन को आनन्दित करने वाले भोजन सत्त्वगुणी लोगों को अच्छे लगते हैं, ऐसे भोजन ही करने चाहियें।"

तामसिक वृत्तियें उठने लगती हैं। मन चंचल रहने लगता है। संयम से रह सकना कठिन हो जाता है। अधिक भोजन करने से यों भी शरीर भारी और सुस्त रहता है। किसी काम में मन नहीं लगता। पड़े और सोये रहने को जी करता रहता है। इस सब से बचने के लिये भोजन भूख से कुछ कम करना चाहिये और बहुत चबा-चबा कर और धीरे-धीरे करना चाहिये। भूख से बहुत कम भी भोजन नहीं करना चाहिये। उस से शरीर क्षीण और दुर्बल हो जायेगा।

६. जो ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे दिन में नहीं सोना चाहिये। दिन में सोने से रात को नींद गाढ़ी नहीं आयेगी। स्वप्न आते रहेंगे। ब्रह्मचर्य का भंग करने वाले गन्दे स्वप्न भी आ जायेंगे। अतः दिन में कभी नहीं सोना चाहिये।

७. ब्रह्मचारी रहना चाहने वाले व्यक्ति को रात को जल्दी—नौ-दस बजे के लगभग—सो जाना चाहिये। और प्रातः जल्दी—चार-साढ़े-चार बजे के लगभग—उठ जाना चाहिए। प्रातः चार-साढ़े-चार बजे के लगभग उठ जाना अत्यन्त आवश्यक है। इस समय के लगभग नींद प्रायः हलकी हो जाती है और स्वप्न आने लगते हैं। इस समय बिस्तरे में पड़े रहने से गन्दे स्वप्न आ कर वीर्य-स्खलित हो जाने का डर रहता है।

८. कब्ज़ नहीं रहने देनी चाहिए। जैसा ऊपर कहा गया है, वीर्यकोष (Semenal Vescicle) शौचाशय और मूत्राशय के मध्य में होता है। कब्ज़ रहने से वीर्यकोष पर शौचाशय का दबाव पड़ता है। सोने की अवस्था में वीर्यकोष पर शौचाशय के दबाव से वीर्य-स्खलन का डर रहता है। कब्ज़ रहने से यों भी जननेन्द्रिय के आस-पास के भाग पर दबाव और तनाव रहता है। उस से जननेन्द्रिय में उत्तेजना होती है। जिस से ब्रह्मचर्य भंग हो जाने की आशंका रहती है। ब्रह्मचर्य-पालन में कब्ज़ बड़ी बाधक है।

९. रात्रि को सोने से पहले लघुशंका (पेशाब) कर के सोना चाहिए। मूत्राशय भरा रहने का भी वीर्य-कोष पर और जननेन्द्रिय के आस-पास के प्रदेश पर उसी प्रकार का बुरा प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार का कब्ज़ रहने से पड़ता है। प्रत्युत मूत्राशय भरा रहने का उस से भी अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः सोने से पहले अवश्य पेशाब कर लेना चाहिए।

१०. भोजन सोने से कम-से-कम तीन घण्टे पहले कर लेना चाहिए। विशेष-कर द्रव पदार्थ तो अवश्य ही सोने से तीन घण्टे पहिले पी लेने चाहियें। सोने

के समय कोई द्रव पदार्थ नहीं पीना चाहिए। जिस से रात को मूत्राशय में अधिक पेशाब इकट्ठा न होने पाये और उस के दबाव से जननेन्द्रिय में उत्तेजना हो कर तथा वीर्य-कोष पर दबाव पड़ कर, गन्दे स्वप्न आ कर, वीर्य-स्खलन न होने पाये।

११. करवट के बल सोना चाहिए। पीठ के बल सीधा अथवा पेट के बल उलटा हो कर नहीं सोना चाहिए। उलटा और सीधा हो कर सोने से वीर्य-कोष पर शौचाशय और मूत्राशय का दबाव पड़ता है। उस दबाव से ऊपर कही गई हानियें होने की आशंका रहती है। करवट के बल सोने से वीर्य-कोष पर इन दोनों का दबाव कम पड़ता है। इस से व्यक्ति वीर्य-कोष पर दबाव से होने वाली हानियों से बचा रहता है।

१२. कभी-कभी अत्यन्त थकावट से भी, सोने के समय वीर्य-स्खलन होता देखा गया है। इस लिए अपने शरीर को अत्यन्त नहीं थकाना चाहिए।

१३. रात को सोने से पूर्व मुंह और पैर धो कर और पोंछ कर सोना चाहिए। इस से रक्त की उष्णता कम हो जाती है। नींद जल्दी और गहरी आती है। गहरी नींद में स्वप्न नहीं आते।

१४. सोने के समय भगवान् का स्मरण तथा पवित्र भाव जगाने वाले वेद-मन्त्रों, श्लोकों और भजनों का पाठ कर के निश्चिन्त और प्रसन्न हो कर सोना चाहिए। इस से भी नींद जल्दी और गहरी आती है। स्वप्न नहीं आते। स्वप्न आते भी हैं तो अच्छे आते हैं जिन से व्रत-भंग नहीं होता।

३
विद्यार्थी-जीवन और ब्रह्मचर्य

जैसा ऊपर कहा गया है आर्य-संस्कृति में ब्रह्मचर्य-पालन पर बड़ा भारी बल दिया गया है। अपनी इन्द्रियों और मन को वश में कर के ब्रह्मचर्य का, संयम का, जीवन बिताना आर्य-संस्कृति और वैदिक धर्म में सभी वर्णों और सभी आश्रमों का एक मुख्य कर्तव्य बताया गया है। ब्रह्मचर्य के, संयम के, जीवन को आर्य-संस्कृति में चरित्र का एक आवश्यक अंग बताया गया है। आर्य-संस्कृति के अनुसार व्यक्ति को यों तो सारे जीवन-भर ही ब्रह्मचर्य का पालन करने का यत्न करना चाहिए परन्तु विद्यार्थी-जीवन के काल में तो व्यक्ति को ब्रह्मचारी रहने का विशेष रूप से प्रयत्न करना चाहिए। विद्यार्थी-जीवन में तो व्यक्ति को ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करने में अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिये। विद्यार्थी-जीवन में तो प्रत्येक व्यक्ति को अखण्ड ब्रह्मचारी रहने का ध्येय अपने सामने रखना चाहिये और उस ध्येय की

प्राप्ति में अपने पूर्ण संकल्प और समग्र शक्ति से जुट जाना चाहिए। आर्य-संस्कृति और वैदिक धर्म में विद्यार्थी को कहा ही "ब्रह्मचारी" जाता है। आर्य-संस्कृति और वैदिक धर्म में विद्यार्थी-जीवन का नाम ही "ब्रह्मचर्य" है। आर्य-संस्कृति में यह जो विद्यार्थी को "ब्रह्मचारी" और विद्यार्थी जीवन को "ब्रह्मचर्य" कहा जाता है उस का कारण यही है कि विद्यार्थी-काल में ब्रह्मचर्य के पालन पर आर्य-संस्कृति अत्यधिक बल देती है।

विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य का महत्त्व

विद्यार्थी-काल जीवन के निर्माण का काल (Formative Period) होता है। इस काल में बालक ने अपने आप को भविष्य-जीवन के लिये तैयार करना होता है। उसे इस काल में अपने शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास करना होता है जिस से वह अपने भविष्य-जीवन की जिम्मेदारियों को भली-भांति पूरा करने के लिये इन तीनों से पूरा उपयोग ले सके। बालक को अपने विद्यार्थी-काल में अपने शरीर को सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ, बलवान् और नीरोग बना लेना चाहिये। अपने मन और मस्तक को भांति-भांति के विद्या-विज्ञानों से भर लेना चाहिये। और अपने आत्मा को सत्यप्रियता, न्यायपरायणता, दयालुता, परोपकारशीलता, सहिष्णुता, क्षमाशीलता, कष्टसहिष्णुता, तपस्विता, सादगी, समय-पालन, अहिंसा, कर्तव्यनिष्ठता, परिश्रमशीलता, नियन्त्रण, उदारता, प्रभुभक्ति और ईमानदारी आदि ऊंचे और पवित्र गुणों का भण्डार बना लेना चाहिये। शरीर, मन और आत्मा की यह तैयारी एक ऐसी पूंजी है जिस का संग्रह व्यक्ति को आगे जीवन-भर काम देगा। इस पूंजी के संग्रह के बिना व्यक्ति अपने अगले जीवन में कुछ भी नहीं कर सकेगा। इस के बिना उसे जीवन में कोई स्थान और कोई सफलता नहीं मिलेगी। परन्तु शरीर, मन और आत्मा की पूर्ण तैयारी की यह पूंजी यों ही आसानी से प्राप्त नहीं हो सकती। उस के लिये बालक को अपने विद्यार्थी-जीवन में पूर्ण रीति से तपस्वी, सादा, और परिश्रमी बनना होगा तथा विचारों को पवित्र बना कर अपने मन और इन्द्रियों को वश में करना होगा और इस प्रकार अपनी शक्ति की एक-एक बून्द को संभाल कर अपने अन्दर रखना होगा। हम ने ऊपर देखा है कि हमारी सब प्रकार की शक्ति का मूलस्रोत हमारे शरीर में उत्पन्न होने वाला वीर्य नाम का रस है। जब हम इस वीर्य नामक रस को अपने शरीर में खपा लेते हैं तो हमारे शरीर, मन और आत्मा तीनों शक्ति से भर जाते हैं और उन का खूब विकास होता है। वीर्य-रस को संयम के द्वारा अपने शरीर में खपा लेने पर ऊपर उल्लिखित

हमारे "जीवन-प्रदीप का प्रकाश" बेहद उज्जवल हो उठता है। हमारे शरीर, मन और आत्मा की सब प्रकार की शक्तियें खूब चमक उठती हैं। शरीर, मन, और आत्मा का पूर्ण विकास हो जाता है। इन के पूर्ण विकास और शक्ति-सम्पन्नता की पूंजी हमारे हाथ में आ जाती है। यह पूंजी हमें अपने भविष्य-जीवन में सब समय और सब अवस्थाओं में काम देगी। क्योंकि विद्यार्थी-जीवन तैयारी और निर्माण का काल है इस लिये इस काल में तो व्यक्ति को पूर्ण संयम से, ब्रह्मचर्य से, रह कर अपने वीर्य-रस की पूरी रक्षा करनी चाहिये जिस से उस के शरीर, मन और आत्मा का भली-भांति विकास हो सके। किसी इमारत की नींव जितनी पक्की होगी वह इमारत उतनी ही टिकाऊ होगी और उस पर उतनी ही अधिक मंजिलें बनाई जा सकेंगी। विद्यार्थी-जीवन सारे जीवन की इमारत के लिये नींव का काम करता है। विद्यार्थी-जीवन अच्छा और सफल बन जाने पर अगला सारा जीवन अच्छा और सफल बन जायेगा। विद्यार्थी-जीवन का, ब्रह्मचर्य का, पहला आश्रम पक्का हो जाने पर गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के अगले तीन आश्रम भी पक्के हो जायेंगे। विद्यार्थी-जीवन की सफलता पर अगले तीनों आश्रमों की, आगामी सारे जीवन की, सफलता निर्भर करती है। और विद्यार्थी-जीवन की सफलता पूर्ण संयम के, ब्रह्मचर्य के, जीवन पर निर्भर करती है। इस लिये विद्यार्थी जीवन में तो प्रत्येक बालक और बालिका को ब्रह्मचारी रहना ही चाहिये।

प्राचीन भारत में विद्यार्थियों का जीवन

प्राचीन भारत में राष्ट्र के बालक और बालिकाओं से उन के विद्यार्थी-काल में ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन कराने का प्रयत्न किया जाता था, जिस से देश के बच्चे शरीर, मन और आत्मा की दृष्टि से पूर्ण तैयार हो कर राष्ट्र के बढ़िया नागरिक बन सकें। प्राचीन भारत में शिक्षणालयों को "गुरुकुल" कहा जाता था। गुरुकुल गांवों और नगरों के वातावरण से दूर सुन्दर एकान्त स्थानों में होते थे। प्रत्येक बालक को गुरुकुल में जा कर पढ़ना होता था। विद्यार्थी-काल में बालक गांव और नगर में अपने घर में न रह कर गुरुकुल में रहा करता था। उस का दिन और रात का समय गुरुकुल में ही बीतता था। गुरु लोग और विद्यार्थी दिन-रात इकट्ठे रहते थे। गुरु लोग अपने विद्यार्थियों को अपना पुत्र समझते थे और विद्यार्थी अपने गुरुओं को अपना पिता मानते थे। गुरु लोग विद्यार्थियों को भांति-भांति की विद्यायें पढ़ाने के साथ-साथ विद्यार्थियों के चरित्रनिर्माण का भी पूरा ध्यान रखते थे। वे अपने विद्यार्थियों

की प्रत्येक गति-विधि पर अपनी आंख रखते थे और उन में कोई गन्दी आदत नहीं पड़ने देते थे। गुरुकुलों की सारी परिस्थिति इस प्रकार की रखी जाती थी कि विद्यार्थियों के सामने कोई प्रलोभन ऐसा न आने पावे जो उन के चरित्र पर बुरा प्रभाव डाले और उन के ब्रह्मचर्य-व्रत का विघातक हो। गुरु लोग स्वयं भी सादगी, तपस्या और संयम का जीवन व्यतीत करते थे और अपने विद्यार्थियों से भी वैसा ही जीवन व्यतीत कराते थे। शहरों के नागरिकों की गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी साज-सिंगार, तड़क-भड़क और भोग-विलास की परिस्थिति से विद्यार्थियों को सर्वथा दूर रखा जाता था। गुरुकुलों में ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक उन सब नियमों और बातों का पालन विद्यार्थियों से कराया जाता था जिन का कुछ उल्लेख ऊपर के पृष्ठों में किया गया है और जिन के वर्णन से आर्य-शास्त्र भरे पड़े हैं।

आज के विद्यार्थी-जीवन की ब्रह्मचर्य-विहीनता

आज दौर्भाग्य से परिस्थितियें बिलकुल भिन्न प्रकार की हो गई हैं। आज शिक्षणालय शहरों के बिलकुल बीच में रहते हैं। नागरिकों के गृहस्थ-जीवन की सब प्रकार की बातें विद्यार्थियों के आगे रहती हैं। विद्यार्थी शहरों में ही रहते हैं। विद्यार्थी गृहस्थों जैसा ही अपना खान-पान और रहन-सहन रखते हैं। बल्कि गृहस्थों से भी ज्यादा शान-शौकत और ठाठ से रहते हैं। गुरु लोग और विद्यार्थी दिन-रात इकट्ठे नहीं रहते। विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण की ओर गुरुओं का बिलकुल भी ध्यान नहीं रहता। शहरों में गली-गली में सिनेमा-घर रहते हैं। वहां काम-वासना को भड़काने वाले खेल-तमाशे दिखाये जाते हैं। विद्यार्थी लोग खुले इन खेलों को देखते हैं। उन के माता-पिता भी देखते हैं और गुरु लोग भी देखते हैं। कोई उन्हें उस रास्ते से रोकता नहीं। जिन गुरुओं का काम विद्यार्थियों को उत्तेजक खान-पान, रहन-सहन और खेल-तमाशों से रोकना था वे स्वयं उस प्रकार का खान-पान और रहन-सहन रख कर तथा उस प्रकर के खेल-तमाशे देखते रह कर विद्यार्थियों के आगे गलत उदाहरण उपस्थित करते हैं। आज के अध्यापक लोग भी सादे, तपस्वी और संयमी जीवन की कद्र नहीं करते और उन के विद्यार्थी भी नहीं करते। बहुत बार तो विद्यार्थी अपने गुरुओं से ही न सीखने-योग्य चीजें सीखते रहते हैं। इस पर लड़के और लड़कियों की सह-शिक्षा (Co-education) का रोग अलग से चल पड़ा है। स्कूल और कालेजों में लड़के और लड़की इकट्ठे पढ़ने जाते हैं। इस के कारण उभरते यौवन के काल में बालक और बालिकाओं के लिए संयम का जीवन बिता सकना और भी कठिन हो जाता है। इस पर

इन लड़के और लड़कियों की वेश-भूषा इतनी तड़क-भड़क की रहती है कि उतनी गृहस्थों की भी नहीं रहती। यह वेश-भूषा की तड़क-भड़क लड़के-लड़कियों के मनों में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण और चंचलता उत्पन्न करने और उन के संयम के बांध को तोड़ने में और भी कारण बनती है। विद्यार्थी-जीवन की इस विषम और गम्भीर परिस्थिति की ओर आज किसी का भी ध्यान नहीं है। आज का विद्यार्थी विवाहित न होते हुए भी गृहस्थ का जीवन व्यतीत करता है। उसे उस प्रकार के जीवन से रोकने वाला कोई भी नहीं है। माता-पिता भी नहीं, गुरु लोग भी नहीं, शासक लोग भी नहीं और देश के नेता भी नहीं। विद्यार्थी-जीवन की इस परिस्थिति के जो बुरे परिणाम हो रहे हैं उन से हरेक विचारशील व्यक्ति चिन्तित है। अनेक बार तो लड़के और लड़कियें अपने विद्यार्थी-काल में ऐसी बातें कर गुजरते हैं जिन की ओर यहां संकेत करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। यह सब बालक और बालिकाओं के विद्यार्थी-जीवन की परिस्थितियों को गलत ढंग का बना दिया जाने का परिणाम है। विद्यार्थी-जीवन की आज की परिस्थितियें विद्यार्थी के जीवन में से संयम को बिलकुल निकाल कर फेंक देती हैं। जिस का भीषण परिणाम यह हो रहा है कि आज के विद्यार्थी के शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास नहीं हो रहा है और देश को उस की सब प्रकार की ज़िम्मेवारियों को संभालने वाले बढ़िया किस्म के नागरिक नहीं मिल रहे हैं। आज का संयमहीन विद्यार्थी अपने निजी जीवन के लिए भी कुछ नहीं कर पाता और अपने राष्ट्र के लिए भी नहीं।

हमें ब्रह्मचर्याश्रम की प्राचीन मर्यादा फिर अपनानी होगी

यदि हमें अपने बालक और बालिकाओं का हित है, यदि हम उन्हें सच्चे मनुष्य बनाना चाहते हैं, यदि हम उन के शरीर, मन और आत्माओं का पूरा विकास देखना चाहते हैं, तो हमें उन के विद्यार्थी-जीवन की चिन्ता करनी होगी। यदि हमें अपने राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति का फिक्र है और इस के लिये यदि हम अपने राष्ट्र को उत्तम-से-उत्तम नागरिक देना चाहते हैं तो हमें कल के नागरिक बनने वाले अपने आज के बालक और बालिकाओं के विद्यार्थी-जीवन की चिन्ता करनी होगी। हमें अपने बालक और बालिकाओं को उन के विद्यार्थी-काल में तपस्वी, सादा और संयमी बना कर रखना होगा। हमें अपने बालक और बालिकाओं को विद्यार्थीकाल में ब्रह्मचारी बना कर रखना होगा। उन से ब्रह्मचर्य का पालन कराने के लिये उन की सब प्रकार की परिस्थितियें ऐसी बना कर रखनी होंगी जिन में उन के लिये ब्रह्मचर्य का

पालन कर सकना आसान हो सके। उन के शिक्षणालय गांव और नगरों से दूर सुन्दर एकान्त स्थानों में बनाने होंगे। विद्यार्थीकाल में बालकों को नागरिकों की गृहस्थ-जीवन की परिस्थितियों से पृथक् रखना होगा। विद्यार्थी-काल में बालकों को नगरों में नहीं रहने देना होगा। विद्यार्थी दिन-रात अपने शिक्षणालयों में ही रहेंगे। उन के गुरु लोग भी उन के पास ही रहेंगे। विद्यार्थियों का रहन-सहन और खान-पान सात्त्विक और सादा रखना होगा। उन्हें तपस्वी रहना होगा। उन्हें काम-वासना को भड़काने वाले खेल और तमाशे नहीं देखने होंगे। उन्हें चरित्र को भ्रष्ट करने वाले सिनेमा और थियेटरों से पृथक् रखना होगा। उन के पाठचक्रम में काम-वासना को जगाने वाले शृङ्गार रस के उपन्यास, नाटक, काव्य और कहानियों को नहीं रखना होगा। लड़के और लड़कियों के शिक्षणालय अलग-अलग बनाने होंगे—सहशिक्षा (Co-education) को तिलांजली देनी होगी। गुरुओं को दिन-रात विद्यार्थियों के साथ रह कर उन की सब प्रकार की गति-विधियों पर दृष्टि रखनी होगी और विद्यार्थियों का चरित्रनिर्माण करना अपना प्रधान कर्तव्य समझना होगा। एक गुरु की संरक्षा में अधिक-से-अधिक ४-५ विद्यार्थी रहेंगे। यह गुरु दिन-रात इन विद्यार्थियों के बीच में रहेगा। अपने विद्यार्थियों के साथ ही खायेगा, साथ ही सोयेगा, साथ ही नहाये-धोयेगा, साथ ही खेले और व्यायाम करेगा और साथ ही घूमने-फिरने जायेगा। विद्यार्थियों के सुख-दुःख में सदा साथ रहेगा। अपने इन विद्यार्थियों को वह अपने परिवार का अंग बना कर रखेगा। वह इस तरह रहेगा कि ये विद्यार्थी उसे अपना पिता समझें और वह उन्हें अपने पुत्र समझे। पढ़ने के समय ये विद्यार्थी भिन्न-भिन्न विषयों को पढ़ाने वाले गुरुओं के पास वह-वह विषय पढ़ने जायेंगे। आगे-पीछे अपने उसी संरक्षक गुरु की संरक्षा में रहेंगे। शिक्षणालय के प्रत्येक अध्यापक को इस प्रकार ४-५ विद्यार्थियों की संरक्षा आवश्यक रूप से करनी होगी। संरक्षक अध्यापक को अपने संरक्षणीय विद्यार्थियों को कोई-न-कोई विषय अवश्य पढ़ाना होगा। ४-५ विद्यार्थियों के पीछे एक गुरु, इस हिसाब से किसी शिक्षणालय में जितने गुरुओं की आवश्यकता होगी उतने गुरु उस शिक्षणालय को रखने होंगे। गुरु लोग भी विद्यार्थियों की भांति ही तपस्वी, सादे और संयमी रहेंगे। गुरुओं को अपना रहन-सहन और खान-पान आदि सब अपने विद्यार्थियों के लिये उदाहरण बना कर रखना होगा। विद्यार्थियों से ब्रह्मचर्य का पालन कराने के लिये उन सब नियमों और सावधानियों का पालन कराया जायेगा जिन का ब्रह्मचर्य के साधन के रूप में ऊपर के पृष्ठों में कुछ उल्लेख किया गया

है। विद्यार्थियों को अपने गुरुओं की आज्ञा का पालन करना होगा और उन की श्रद्धा से सेवा करनी होगी। एक शब्द में, हमें अपने शिक्षणालयों को प्राचीन भारत के "गुरुकुल" और अपने विद्यार्थियों को "गुरुकुल के ब्रह्मचारी" बनाना होगा। तभी हमारे बालक विद्यार्थी जीवन के अपने निर्माण के काल (Formative Period) में सुरक्षित रह सकेंगे और अपने शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास कर के आदर्श मनुष्य बन सकेंगे।

ब्रह्मा, वसिष्ठ, पतंजलि और व्यास से लेकर दयानन्द, श्रद्धानन्द और गान्धी तक के आर्य ऋषि-मुनियों, आचार्यों और सन्त-महात्माओं की अनन्त परम्परा जिस ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाती नहीं थकती रही है उस ब्रह्मचर्य का पालन किये विना आज के विद्यार्थी का भी कल्याण नहीं है और आज के राष्ट्रों का भी कल्याण नहीं है।

४

ब्रह्मचर्य और पश्चिमी डाक्टर

आज हमारे देश का पश्चिमीय पद्धति में शिक्षित समुदाय अपने पूर्वजों की सभ्यता की इस देन ब्रह्मचर्य को भूलता जा रहा है। हम अनुचित इन्द्रिय-सुख-प्रधान पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में आकर ब्रह्मचर्य की महिमा को तुच्छ दृष्टि से देखने लगे हैं। हमारे देश के पत्र-पत्रिकाओं में अनेक वार ऐसे भ्रान्ति-पूर्ण लेख निकलते हैं जिन्हें पढ़ कर युवक और युवतियों के मनों में ब्रह्मचर्य की भावना के ढीला हो जाने की भारी संभावना रहती है। इस बात का प्रचार किया जाता है कि ब्रह्मचर्य का जीवन लाभ के स्थान में हानि करता है। इन लोगों के मत में जैसे भूख लगना एक स्वाभाविक बात है और भूख लगने पर भोजन न खाने वाला व्यक्ति कुछ समय में रोगी हो कर अवश्य मर जायेगा, वैसे ही कामवासना भी एक स्वाभाविक बात है और समय-समय पर वीर्य-नाश द्वारा उस की तृप्ति न करने वाला व्यक्ति अवश्य कई प्रकार के रोगों से आक्रान्त हो जायेगा और एक दिन उस के मर जाने की भी संभावना रहेगी। अपने मन्तव्य को पुष्ट करने के लिए ये लोग कई वार अनेक योरोपीयन डाक्टरों के नाम भी उपस्थित किया करते हैं। इस प्रकार की झूठी युक्तियों और योरोपियन डाक्टरों के नामों से प्रभावित हो कर अनेक युवक अपने जीवनों को ब्रह्मचर्य भंग के भीषण प्रवाह में फेंक कर नष्ट कर लेते हैं। कितने ही दूषित वृत्ति के लोग बात-चीत में भी इस प्रकार के हेत्वाभास-पूर्ण मन्तव्यों को नवयुवकों के सम्मुख उपस्थित कर के उन्हें भ्रष्ट करने का घृणित प्रयत्न करते

रहते हैं। हमारे नवयुवक और नवयुवतियों को इस प्रकार के कलुषित विचारों का प्रचार करने वाले साहित्य और व्यक्तियों से सर्वथा बच कर रहना चाहिये। नहीं तो उन की संगति उन्हें एक दिन कहीं का नहीं छोड़ेगी।

हमारे नवयुवकों को समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मचर्य के पालन से किसी प्रकार की हानि नहीं होती है। इस के पालन से व्यक्ति किसी प्रकार के रोग का शिकार नहीं बनता। बल्कि उस के शरीर में ब्रह्मचर्य का पालन करने से रोगों का मुकाबला करने की शक्ति पैदा होती है। सब इन्द्रियें शक्ति-शाली बन जाती हैं, स्मृति-शक्ति बढ़ जाती है और विचार-शक्ति अधिक स्पष्ट हो जाती है। मन और शरीर में कार्य करने का सामर्थ्य अधिक हो जाता है। कामवासना वैसी स्वाभाविक वस्तु नहीं है जैसी कि भूख है। भूख पर हमारी इच्छा-शक्ति का बहुत कम प्रभाव है। भूख लगने पर रोटी न खाने से हम देर तक जीते नहीं रह सकते। हम कुछ ही दिनों में आवश्यक तौर पर मर जायेंगे। पर कामवासना पर हमारी इच्छा-शक्ति का पूरा प्रभाव है। अपनी इच्छा-शक्ति से काम को दबाने वाला व्यक्ति किसी आपत्ति से ग्रस्त नहीं होता। उसे कोई रोग भी नहीं होता। मरने की तो बात दूर है। ऐसे सैंकड़ों व्यक्ति मिल सकते हैं जिन्होंने इच्छा-शक्ति से काम को दबा लिया और इस काम-विजय से जिन को भारी लाभ हुआ।

योरोपियन डाक्टरों के नाम से भी प्रभावित नहीं होना चाहिए। योरोपियन और उन के अनुयायी भारतीय डाक्टर कोई परमात्मा नहीं होते कि जो कुछ वे कहेंगे सत्य और कल्याणकारी ही होगा। अनेक बातों में इन डाक्टरों के विचार भ्रमपूर्ण भी हो सकते हैं। पर यह बात नहीं है कि सारे ही योरोपियन डाक्टर ब्रह्मचर्य का विरोध करते हों। योरोप में भी अनेक भारी-भारी डाक्टर हैं जो ब्रह्मचर्य का समर्थन करते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् फ्रांस देश के प्रसिद्ध समाज-शास्त्री विद्वान् पाल ब्यूरो (Paul Bureau) ने "अनाचार की राह पर" (Towards Moral Bankruptcy) नामक एक साढ़े पांच सौ पृष्ठ की भारी पुस्तक लिखी थी। वह पुस्तक लिखी तो फ्रांस के लोगों को सम्बोधन कर के गई है, पर वास्तव में वह सभी पाश्चात्य सभ्यता-प्रधान देशों को सम्बोधन करती है। क्योंकि अनुचित ऐन्द्रियिक सुख-प्रधान सभ्यता का फ्रांस देश को आदर्श नमूना कहा जा सकता है। जो फ्रांस के लिये सत्य है वह सभी पाश्चात्य सभ्यता-प्रधान देशों के लिये सत्य है। उक्त पुस्तक में बड़ी योग्यता के साथ वर्तमान सभ्यता के दूषणों का वर्णन कर के संयम और ब्रह्मचर्य के जीवन का समर्थन किया गया है। संयम और ब्रह्मचर्य के जीवन से ही

मनुष्य-समाज की रक्षा हो सकती है इस बात को प्रबल तर्क से प्रतिपादित किया गया है। प्रत्येक अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे नवयुवक और नवयुवति को उस पुस्तक का एक वार पाठ अवश्य करना चाहिए। उसे पढ़ कर उन की आंखें खुल जायेंगी और वे देखेंगे कि संयमहीन पाश्चात्य सभ्यता मनुष्य-समाज को किस गहरे गढ़े में ले जाना चाहती है। उस पुस्तक में डाक्टर लोग ब्रह्मचर्य के विरोधी हैं इस मत का खण्डन करने के लिये भी कुछ प्रसिद्ध डाक्टरों की सम्मतियें दी गई हैं। पाठकों के लाभ के लिये उन में से कुछ एक के ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी विचार नीचे दिए जाते हैं। उन्हें पढ़ कर पाठक देखेंगे कि ब्रह्मचर्य रख सकना असम्भव है, अस्वाभाविक है और हानिकारक है ये विचार कितने भ्रामक और थोथे हैं—

डा० ईस्टर लेन (Oesterlen) जो कि टच्यूबिजन विश्वविद्यालय में उपाध्याय (Professor at Tubigen University) हैं, लिखते हैं—"कामेच्छा इतनी शक्तिशाली नहीं है कि उसे आत्मिक बल और विचार द्वारा जीता या काबू में न किया जा सके अथवा पूर्णरूप में ही जीता न जा सके। युवक और युवतियों को उचित समय आने तक अपने आप को काबू में रखना चाहिए। इस क्षणिक सुख-त्याग का फल बलिष्ठ स्वास्थ्य और सदा ताज़ा रहने वाली कार्य-शक्ति होगी। ब्रह्मचर्य और पूर्ण पवित्रता शरीर-विज्ञान और आचार-शास्त्र के नियमों के सर्वथा अनुकूल है, और विषय-विलास में फंसना इन दोनों ही शास्त्रों के नियमों से सिद्ध नहीं होता, यह जितनी बार दोहराया जाय थोड़ा है[1]।"

---

1. "The sexual instinct is not so blindly all-powerful that it can not be controlled, and even subjugated entirely, by moral strength and reason. The young man, like the young woman, should learn to control himself until the proper time. He must know that robust health and ever renewed vigour will be the reward of this voluntary sacrifice.........one can not repeat too often that abstinence and the most absolute purity are perfectly compatible with laws of physiology and morality, and that sexual indulgence is no more justified by physiology and psychology then by morality and religion."

सर लायनिल बील (Lionel Beale) जो कि लण्डन के रायल कालेज में प्रोफेसर हैं कहते हैं—"सदा ही उच्च श्रेणी के श्रेष्ठ मनुष्यों के जीवन सिद्ध करते रहे हैं कि ज़बरदस्त इच्छा-शक्ति और जीवन के नियमित व्यवहार से तीव्र-से-तीव्र सहज वृत्तियें पूर्ण रूप से जीती जा सकती हैं। जब कभी भी ब्रह्मचर्य का पालन किया गया है तो कोई भी हानि होती नहीं देखी गई है। पूर्ण ब्रह्मचारी रह सकना बहुत अधिक कठिन नहीं है यदि इच्छा ब्रह्मचारी रहने की हो। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल विवाह न करना ही नहीं है प्रत्युत इस का अर्थ विचारों की पवित्रता है[1]।"

स्विटज़रलैण्ड के मनोवैज्ञानिक डा० फौरल (Forel) ने लिखा है—"अभ्यास से प्रत्येक अंग की क्रिया बढ़ और दृढ़ हो जाती है। दूसरी ओर अनभ्यास से किसी अंग की क्रिया-शक्ति मन्द पड़ जाती है। काम के विचार को तृप्त करते रहने से इच्छा गहरी हो जाती है, पर उत्तेजक कारणों से पृथक् रहने पर कामेच्छा मन्द पड़ जाती है और शनैः शनैः कम हो जाती है। नौजवानों में यह विचार प्रचलित है कि ब्रह्मचर्य एक असाधारण और असम्भव चीज़ है। पर जिन्होंने ब्रह्मचारी रह कर देखा है वे सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य को किसी प्रकार की हानि नहीं होती[2]।"

---

1. "The example of the best and noblest among men, has at all times proved that the most imperious of instincts can be effectively resisted by a strong and serious will, and by sufficient care as to manner of life and occupation. Sexual abstinence has never yet hurt any man when it has been observed, not only through exterior restrictive causes, but as a voluntary rule of conduct. Virginity, in fine, is not hard to observe, provided that it is the physical expression of a certain state of mind. ... . chastity implies, not only continence, but also purity of sentiments, the energy which is the result of deep convictions."
2. "Every kind of nervous activity is increased and strengthened by exercise. On the other hand, inactivity in a particular region reduces the effects of the exciting causes which correspond to it. All causes of sexual disturbance increase the intensity of desire. By avoiding

डा० रिबिंग (Ribbing) कहता है—"मुझे कितने ही ऐसे मनुष्यों का ज्ञान है जो २५, ३० या अधिक वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचारी रहे हैं या जब उन्होंने विवाह किया उस समय तक पूर्ण ब्रह्मचारी रहे थे। ऐसे उदाहरण थोड़े नहीं हैं। हां, ऐसे लोग अपना विज्ञापन नहीं देते-फिरते। . . . . मुझे ऐसे विद्यार्थी मिले हैं जिन्होंने मुझे फटकार बताई है कि ब्रह्मचर्य पर्याप्त आसानी से रखा जा सकता है इस विषय पर मैंने पर्याप्त बल क्यों नहीं दिया[१]।"

डा० ऐक्टन (Actan) लिखते हैं—"विवाह से पहले पूर्ण ब्रह्मचारी रहा जा सकता है और नौजवानों को रहना चाहिए[२]।"

सर जेम्स पेजट (Sir James Paget) जो कि इंग्लिश सम्राट् के चिकित्सक हैं, कहते हैं—"ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा को कोई हानि नहीं पहुंचती। अपने को नियन्त्रण में रखना सब से अच्छी बात है[३]।"

डा० पैरियर (E. Perier) ने लिखा है—"यह एक बिलकुल झूठा ख्याल है, और इस के विरुद्ध लड़ाई होनी चाहिये क्योंकि यह बच्चों और उन के पिताओं के मनों में घुस जाता है—यह ख्याल कि पूर्ण ब्रह्मचर्य से कोई हानि होती है। नौजवानों के शरीर, चरित्र और बुद्धि का रक्षक पूर्ण

---

these provocations it becomes less sensitive, and the desire gradually diminishes. The idea is current among young people that continence is something abnormal and impossible, and yet the many who observe it prove that chastity can be practised without prejudice to the health."

१. "I know a number of men of 25, 30 and older than that, who have observed perfect continence or who when they married had done so up to that time. Such cases are not rare; only they don't advertise themselves. . I have received many confidences from students, healthy both in body and mind, who have remonstrated with me for not having sufficiently insisted on the ease with which sensual desire can be ruled."

२. "Before marriage absolute continence can and ought to be observed by youngmen."

३. "Chastity no more injures the body than the soul. discipline is better than any other line of conduct."

ब्रह्मचर्य ही है[१]।"

सर ऐण्ड्र क्लार्क (Sir Andrew Clarke) ने लिखा है—"ब्रह्मचर्य से कोई हानि नहीं होती, इस से उन्नति रुकती नहीं, इस से शक्ति बढ़ जाती है, ज्ञान-शक्ति विस्पष्ट हो जाती है। अब्रह्मचर्य से आत्म-संयम ढीला हो जाता है, सुस्ती की आदतें पड़ जाती हैं, सारा जीवन मन्द पड़ जाता और पतित हो जाता है, बीमारियों के आक्रमण का विषय बन जाता है जो बीमारियें कई पीढ़ियों तक भी जा सकती हैं। यह कहना कि अब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है न केवल एक भूल है प्रत्युत एक अत्याचार है। यह विचार एक दम झूठा और हानिकारक है[२]।"

डा० सर्बल्ड (Surbled) लिखता है—"अब्रह्मचर्य की हानियें सुप्रसिद्ध हैं। अब्रह्मचर्य की हानियों का वर्णन करने वाली भारी पुस्तकें मिल सकती हैं। ब्रह्मचर्य की हानियों को लिखने वाला ऐतिहासिक अभी पैदा होना है। ब्रह्मचर्य से हानियें होती हैं यह केवल कथन ही कथन है, जो कि सिद्ध नहीं किया जा सकता[३]।"

---

१. 'It is a singularly false notion and one which must be fought against, since it besets not only the children's mind, but that of the fathers as well, the notion of imaginary dangers in absolute continence. Virginity is a physical, moral and intellectual safeguard to youngmen."

२. 'Continence does no harm, it does not hinder development, it increases energy and enlivens perception. Incontinence weakens self-control, creats habits of slackness, dulls and degrades the whole being, and lays it open to diseases which can be transmitted to several generations. To say that incontinence is necessary to the health of youngmen is not only an error, but a cruelty. It is at once false and hurtful."

३. "The evils of incontinence are well-known and indisputed, those produced by continence are imaginary, what proves this is the fact of the many learned and voluminous works devoted to the explanation of the former, while the latter still await their historian. As to these latter there are but vague assertions, which hide themselves, for very shame, in mere talk, but which will not endure the day-light."

डा० मौंटेगाज़ा (Montegaza) ने लिखा है —"मैंने ब्रह्मचर्य से होती हुई कोई बीमारी नहीं देखी। सभी मनुष्य विशेषकर नौजवान ब्रह्मचर्य के लाभों को तत्क्षण अनुभव कर सकते हैं[१]।"

डा० ड्यबॉइस (Dubois) जो कि बर्न (Berne) विश्वविद्यालय में नाड़ी-चक्र सम्बन्धी रोग-विज्ञान के प्रसिद्ध प्रोफेसर हैं लिखते हैं—"जो असंयम में बह जाते हैं उन में उन लोगों की संख्या अधिक है जो नाड़ी-चक्र-सम्बन्धी शक्ति-हीनता के शिकार बनते हैं। जो इस पाशविक-वृत्ति से बचना जानते हैं उन्हें यह बीमारी बहुत कम होती है[२]।"

डा० फेरे (Fere) जो कि बिसीत्र् (Bicetre) के हस्पताल में चिकित्सक हैं कहते हैं "जो लोग मन को पवित्र रख सकते हैं उन के लिये ब्रह्मचारी रह सकना कोई कठिन बात नहीं है और न ही उन के स्वास्थ्य को कोई हानि होती है। स्वास्थ्य कामेच्छा की पूर्ति पर आश्रित नहीं है[३]।"

प्रोफेसर अल्फ्रेड फोरनियर (Alfred Fourneir) कहते हैं—"ब्रह्मचर्य से हानियें होती हैं ऐसी अयुक्त और थोथी बात कही जाती रही है। ऐसी हानियों का एक चिकित्सक के रूप में मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है। हालांकि मुझे रोगियों के निरीक्षण करने के अनेक अवसर मिले हैं। एक चिकित्सक की हैसियत से मैं यह कह सकता हूं कि लगभग २१ वर्ष की आयु से पहले पुंस्त्व नहीं आता और इस समय से पहले कामेच्छा की पूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती यदि पहले ही अनुचित तौर पर कामेच्छा न जगा ली गई हो। समय से पहले काम-वासना की जागृति कृत्रिम है और बहुत हालतों में बच्चे के अनुचित पालन-पोषण और शिक्षण का परिणाम होती है। निश्चय रखो कि असंयम की अपेक्षा संयम में हानियों की बहुत कम सम्भावना है[४]।"

---

१. "I have never seen a disease produced by chastity..... .... All men and especially youngmen can experience the immediate benefits of chastity".

२. "There are more victims of neurasthenia among those who give free rein to their sensulity than among those who know how to escape from the yoke of mere animalism."

३. "Those who are capable of psychic chastity can maintain their continence without any fear for their health, which does not depend on the satisfaction of the sexual instinct."

४. "There has been unfitting and light talk about the dangers of continence for the youngmen. I can assure you that if these dangers

सन् १९०२ में जगत् के प्रसिद्ध और प्रामाणिक डाक्टरों की ब्रुसेल्स (Brussels) नगर में एक सभा (The Second General Congress of) the International Conference of Sanitary and Moral Prophylaxis) हुई थी। इस में १०२ विद्वान् डाक्टर उपस्थित थे। उन्होंने सर्व-सम्मति से एक प्रस्ताव पास किया था कि "नवयुवकों को यह शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है कि पवित्रता और ब्रह्मचर्य से न केवल कोई हानि ही नहीं होती, प्रत्युत ये ऐसे गुण हैं जिन का धारण करना विशुद्ध चिकित्सा और स्वास्थ्य-शास्त्र की दृष्टि से भी अति आवश्यक है[१]।"

क्रिश्चियानिया विश्वविद्यालय (Christiania University) के आयुर्वेद-विभाग (Medical Faculty) के प्रोफेसरों ने सर्व-सम्मति से घोषणा की थी कि "यह कहना कि ब्रह्मचर्य का जीवन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, हमारे सर्वसम्मत अनुभव के आधार पर सर्वथा निराधार है। पवित्र और ब्रह्मचर्य के जीवन से कोई हानि होती है इस का हमें कोई ज्ञान नहीं है[२]।"

डाक्टर वीरी (Viri) लिखते हैं—"हर एक जानता है कि भोजन की मांग को पूरा न करने से अथवा सांस को रोकने से क्या परिणाम भोगने पड़ेंगे। परन्तु सामयिक या पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन से कोई अनिष्ट रोग आदि होते नहीं देखे गये। जीवन में हम ऐसे पुरुष देखते हैं जो ब्रह्मचारी रहे हैं और जो कि

---

exist I know nothing about them, and that as a physician I am still without proof of their existence, though I have had every opportunity on the way of subjects under my professional observation…… …………Besides this, as a physiologist I will add that true virility is not attained before the age of twenty-one, or thereabouts, and sexual necessity does not obtrude itself before that period, especially if unhealthy excitements have not aroused it prematurely. Sexual precocity is merely artificial, and is most often the result of ill-directed up-bringing……………In any case, be sure that danger of this kind lies far less in restraining than in anticipating the natural tendency, you know what I mean."

१. "Youngmen must above all be taught that chastity and continence are not only not harmful, but also that these virtues are among those to be most earnestly recommended from the purely medical and hygienic standpoint."

२. "The assertion that a chaste life will be prejudicial to the health rests, according to our unanimous experience, on no foundation. We have no knowledge of any harm from pure moral life."

किसी बात में किसी से कम नहीं रहे हैं। जो आवश्यकता या सहज-वृत्ति इतनी रूपान्तरित हो सकती है और अपनी अपूर्ति की अवस्था के साथ इतना मेल खा जाती है, उसे असल में कोई आवश्यकता या सहज वृत्ति कहा ही नहीं जा सकता[१]।"

फिर आगे लिखते हैं--"यौवनारम्भ के समय बालक में बड़े परिवर्तन आते हैं। शरीर की अनेक क्रियाओं में बड़ी उथल-पुथल मच जाती है। इस समय बालक को अपनी सारी जीवनी-शक्ति की आवश्यकता होती है। क्योंकि इस समय रोगों का प्रतिरोध करने की सामर्थ्य कमज़ोर पड़ जाती है। इस आयु में रोग और मृत्यु संख्या पहले से अधिक होती है। शरीर की सामान्य वृद्धि, अङ्गों के विकास, और शरीर तथा मन की समस्त शृङ्खला में, जिन की समाप्ति पर बालक पुरुष बन जाता है, प्रकृति को बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। इस आयु में सभी प्रकार का अपव्यय विशेष कर वीर्य की हानि शरीर-विकास के लिये बड़ी घातक होती है[२]।"

प्रोफेसर मौण्टेगाज़ा ब्रह्मचर्य के लाभों का वर्णन करते हुए लिखते हैं--"सभी पुरुष, विशेष कर नौजवान, ब्रह्मचर्य के लाभों को तत्काल अनुभव कर सकते हैं। स्मृति की स्थिरता और धारणा-शक्ति बढ़ जाती है। मस्तक जीवित और उपजाऊ हो जाता है, इच्छा-शक्ति बलिष्ठ हो जाती है। चरित्र

---

१. "Every one knows what it would cost him not to satisfy the need of nourishment or to suppress respiration, but no one quotes any pathalogical consequences, either actute or chronic, as having followed either temporary or absolute continence . . . . In normal life we see the example of chaste men who are neither less virile in character, nor less energetic in will nor less robust, than others, nor less fitted to become fathers if they marry . . . . A need which can be subject to such variations, an instinct which accommodates itself so well to lack of satisfaction, is neither a need nor an instinct."

२. "The attainment of puberty is accompanied by great changes, a veritable disturbance of various functions, and general development. The adolescent boy needs all his vital strength, for during this period there is often a weakening of the resistence to sickness, disease and mortality are higher than in the earlier period. The long work of general growth, of organic evolution, that whole series of physical and psychic changes, at the end of which the child becomes a man, involves a toilsome effort of nature. At that moment, all over-driving is dangerous, but especially the premature exercise of the sexual function."

के सभी अङ्गों में एक ऐसी शक्ति आ जाती है जिस को विलासी लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। ब्रह्मचर्य से हमें परिस्थितियें एक विशेष आनन्द-दायक रंग में रंगी हुई दिखाई देती हैं। ब्रह्मचर्य अपनी किरणों से संसार के प्रत्येक पदार्थ को आलोकित कर देता है और हमें कभी न मिटने वाले एक विशुद्ध हर्ष की अवस्था में ले जाता है--जो हर्ष कभी फीका नहीं पड़ता[१]।"

इन प्रसिद्ध डाक्टरों के ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचारों को पढ़ कर उस की उपयोगिता के विषय में किसी को सन्देह नहीं रह सकता। जो लोग इस बात का घातक प्रचार करते हैं कि ब्रह्मचर्य के पालन से अनेक हानियें होती हैं, उन का कथन कितना झूठा और निराधार है यह इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है। इस समय इस बात की भारी आवश्यकता है कि हमारे देश के नवयुवक और नवयुवतियों में ब्रह्मचर्य की महिमा के भाव भरे जायें और उन में से इस सम्बन्ध में भ्रममूलक विचारों को उच्छिन्न किया जावे, नहीं तो देश एक दिन दुर्बल शरीर वाले, कमज़ोर मस्तक वाले और रोगों से जर्जरित लोगों से भर जायेगा, और जाति के उत्थान और उत्कर्ष की कोई आशा नहीं रहेगी। भारत के शिक्षाविज्ञों, समाज-सुधारकों और राजनीतिक नेताओं को इधर भारी ध्यान देना चाहिये।

---

१. "All men and youngmen in particular, can experience the immediate benefit of chastity. The memory is quiet and tenacious, the brain lively and fertile, the will energetic, the whole character gains a strength of which libertines have no conception, no prism shows us our surroundings under such heavenly colours as that of chastity, which lights up with its rays the least objects in the universe and transports us into the purest joys of an abiding happiness that knows neither shadow neither decline."

वैदिकधर्म और अन्य धर्मावलम्बी

१

अन्यधर्मावलम्बियों के प्रति वैदिकधर्म की दृष्टि

आज का विचारणीय विषय है—मेरा धर्म अन्य धर्मावलम्बियों को किस दृष्टि से देखता है। हम आर्यसमाज के लोग वैदिक धर्मावलम्बी हैं। हम वेद में प्रतिपादित धर्म को मानते हैं और उसी धर्म का प्रचार करते हैं। आज मैंने अपने इस भाषण में आप को यह बताना है कि हमारा वैदिक धर्म अन्य धर्मावलम्बियों को किस दृष्टि से देखता है।

वैदिकधर्म में जीवन का लक्ष्य : ब्रह्म-साक्षात्कार

इस से पहले कि हम यह देखें कि वैदिक धर्मावलम्बी आर्यसमाज अन्यधर्मावलम्बियों को किस दृष्टि से देखता है, यह समझ लेना आवश्यक है कि आर्यसमाज "धर्म" किसे समझता है। आर्यसमाज जिस धर्म का प्रचार करता है उस में मनुष्य का परम लक्ष्य (Sumum Bonum) "मोक्ष" माना गया है—वह लक्ष्य जिसे प्राप्त कर चुकने पर मनुष्य के लिये और कुछ करने-धरने को नहीं रहता, वह कृतकृत्य और पूर्णकाम हो जाता है, उस के प्रकृति और तत्कारणक शरीर, इन्द्रिय और मन के साथ संसर्ग में आने का अन्तिम प्रयोजन चरितार्थ हो जाता है, और, वह कल्पना में आ सकने वाले सभी कष्ट-क्लेशों से अलग हो कर विशुद्ध, दिव्य, निर्विकार आनन्द के महा-समुद्र में हिलोरें लेने लगता है। इस दिव्य स्थिति के अपवर्ग, ब्रह्मसाक्षात्कार, ब्रह्मप्राप्ति आदि और भी अनेक नाम हैं। इस ऊंची स्थिति में पहुंचना ही वस्तुतः इस क्षणभंगुर जीवन का परम पुरुषार्थ है। यह बात वेद के——

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते[1] ॥

ऋग्. १. १६४. ३९।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्[2] ॥

अथर्व. १०. ८. ४४।

---

१. इन दसों मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है——

"अविनाशी, परम रक्षक जिस परमात्मदेव में सब जड़ और चेतन देव निवास करते हैं वेद की ऋचायें उसी का बखान करती हैं, जिस ने उसे नहीं जाना वह वेद की ऋचाओं से क्या करेगा? जो उसे जानते हैं वे ही आनन्दपूर्वक रहते हैं।"

२. "वह परमात्मदेव कामनाओं से रहित है, धीर है, अमृत है, स्वयंभू है, आनन्द से तृप्त

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्[१] ॥

यजुः. ३८. ९ ।

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त[२] ॥

अथर्व. २. १. ५ ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम[३] ॥

ऋग्. १०. १२१. २ ।

युंजते मन उत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महो देवस्य सवितुः परिष्टुतिः[४] ॥

ऋग्. ५. ८१. ५ ।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे[५] ॥

ऋग् ८. ९८. ११ ।

है, उस में कहीं से भी कोई कमी नहीं है, उसे जान लेने वाला मृत्यु से नहीं डरता, वह सर्वव्यापक है, धीर है, अजर है और युवा है।"

१. "उस अमृतमय परमात्मदेव का इन्द्रियों को वश में रखने वाला और वेदवाणी का ज्ञाता विद्वान् ही प्रवचन कर सकता है, वह तेज का पुञ्ज है, सब का आश्रय-स्थान है, हृदय और बुद्धि द्वारा वह जाना जाता है, उस के तीन पद गुहा में छिपे हुए हैं जो उन्हें जान लेता है वह पिता का भी पिता हो जाता है।"

२. "मैं अपने विचार द्वारा सब लोकों का भ्रमण कर आया हूं, सत्य के तन्तु आनन्दस्वरूप उसी परमात्मदेव को मैंने सर्वत्र फैला हुआ देखा है, सब के कारण जिस परमात्मदेव में मुक्तात्मा लोग आनन्द का उपभोग करते हुए विचरण करते हैं।"

३. "जो आत्मा का देने वाला है, बल का देने वाला है, जिस के शासन को सब देव मानते हैं, जिस की आश्रय-रूप छाया अमृत की देने वाली है और जिस का अनाश्रय मृत्यु का कारण बनता है, उस आनन्दस्वरूप परमात्मदेव की हम आत्मत्यागपूर्वक उपासना करते हैं।"

४. "ज्ञानी विप्र लोग उसी महान् ज्ञानी परमात्मदेव में अपने मन और बुद्धियों को लगाते हैं, नामों से पुकारे जाने वाले सब पदार्थों को उसी ने धारण कर रखा है, सब ज्ञान और कर्मों को जानने वाला वही एक है, सब के उत्पादक उस देव की महान् स्तुति है।"

५. "हे सब को बसाने वाले और सैंकड़ों प्रकार के ज्ञान और कर्म वाले परमात्मदेव तुम ही हमारे पिता हो और तुम ही हमारी माता हो, हम आप से आनन्द मांगते हैं।"

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्तिभूतम्[1]॥
अथर्व. १०. ७. ३१ ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय[2] ॥
यजुः. ३१. १८ ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतं स्मर[3] ॥
यजुः. ४०. १५ ।

इन और इन जैसे अन्य अनेक मन्त्रों में सर्वथा असंदिग्ध रीति से बताई गई है । इन मन्त्रों में जो कुछ कहा गया है उस का निचोड़ यह है कि "वह ब्रह्म ही अमृत की एक खान है, उसी को प्राप्त कर के हम अमृत को पा सकते हैं, उसी में हमें अपनी मन और बुद्धियें लगानी चाहियें, उस का हमें प्रातः सब से पहले भजन करना चाहिये, मृत्यु-पर्यन्त उस ओंकार का स्मरण हमें करते रहना चाहिये, वही हमारी माता और वही हमारा पिता है, जिस ने उसे नहीं जाना उस ने वेद पढ़ के भी क्या लाभ लिया ? उसे पा कर ही हम मौत को तर सकते और उस के भय से ऊपर उठ सकते हैं क्योंकि वह प्रकाशपुंज है, अकाम है, धीर है, स्वयंभू है, रस से पूर्ण है, सब कामियों से रहित है । उसी को प्राप्त करने में हमारी सारी शक्तियें लगनी चाहियें ।"

आत्मा पर प्रकृति का बन्धन

परन्तु मनुष्य तो प्रकृति से घिरा हुआ--उस में बन्धा हुआ--पैदा होता है । इस भारी विश्व में जहां तक उस की दृष्टि जा सकती है उसे प्रकृति ही प्रकृति का पसारा नज़र आता है । दृष्टि ही क्यों, जहां तक उस की बुद्धि पहुंच सकती है वहां तक, और विज्ञान बताता है कि उस से भी परे तक, प्रकृति

१. "जो पुरुष उषाकाल और सूर्योदय से पहले ब्राह्ममुहूर्त में परमात्मा के नाम का स्मरण करता है वह उस अजन्मा को जो सब से पहले से विद्यमान है, जो जगत् पर स्वयं राज्य करता है और जिस से उत्कृष्ट और कोई पदार्थ नहीं है, प्राप्त करता है ।"

२. "मैंने इस परमात्मदेवरूप पुरुष को जान लिया है जो महान् है, सूर्य जैसा तेजस्वी है और अन्धकार से परे है, उसी को जान कर मनुष्य मृत्यु को जीत सकता है, अमरता की ओर जाने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है ।"

३. "मृत्यु के समय प्राण अमर वायु में मिल जायेगा, शरीर राख में मिल जायेगा, हे कर्मशील जीवात्मा ! तू ओ३म् का स्मरण कर, शक्ति प्राप्त करने के लिये उस का स्मरण कर, अपने किये हुए का स्मरण कर ।"

का साम्राज्य है। मनुष्य ने अपने जीवन-भर जिन चीज़ों से काम लेना है---जिन चीज़ों से उस का थोड़ा भी वास्ता पड़ता है---वे अधिकांश प्रकृति की बनी हैं। और तो और, स्वयं उस का अपना शरीर और इन्द्रियें भी---जिन्हें वह प्रायः "मैं" ही समझता है---प्रकृति की देन हैं, उसी का परिणाम हैं। इतनी बुरी तरह प्रकृति के दुर्ग में, जिस के बाहर दूर-दूर तक प्रकृति की सेनाओं का ही डेरा डला हुआ है, बन्द पड़ा पुरुष स्वतन्त्र कैसे हो सकता है---प्रकृति से ऊपर उठ कर ब्रह्म-साक्षात्कार और ब्रह्मनिमग्नता की अवस्था में कैसे पहुंच सकता हे ? उसे तो प्रकृति के बने इन शरीर और इन्द्रियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इतना अधिक प्रपंच करना पड़ता है जिस का कोई हिसाब नहीं। अपने शरीर और इन्द्रियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे विवाहित हो कर घर बसाने पड़ते हैं, ज़मीनें साफ कर के खेतियें करनी पड़ती हैं, भांति-भांति की चीज़ों का आविष्कार करके व्यापार चलाने पड़ते हैं, संगठित हो कर ग्राम और नगरों की नींव डालनी पड़ती है, सुव्यवस्थित राज्यों की रचना करनी पड़ती है, न्यायालय और पुलिस-विभाग स्थापित करने पड़ते हैं, स्थल, जल और वायु में संचार करने वाली सेनायें तैयार करनी पड़ती हैं। और सारे प्रपंच के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम-स्वरूप और जो असंख्यात संस्थायें और वस्तुयें आविष्कार करनी पड़ती हैं उन की नामावली देने के लिये एक पूरे विश्वकोश की आवश्यकता पड़ेगी। यह सारा प्रपंच बिलकुल व्यर्थ ही हो यह भी प्रतीत नहीं होता। इस के अभाव में मनुष्य शायद एक क्षण के लिये भी अपनी सत्ता को स्थिर न रख सके। यदि वह किसी तरह अपनी सत्तामात्र स्थिर रख सकने में समर्थ भी हो जाये तो भी वह ऊंचे ज्ञान-विज्ञान का आविष्कार करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। और ऊंचे ज्ञान-विज्ञान के आविष्कार बिना वह आत्मा, परमात्मा, प्रकृति और इन के भेद तथा अपवर्ग प्राप्ति आदि दार्शनिक (Metaphysical) विषयों को समझने की भी शक्ति नहीं रख सकता, प्रकृति से ऊपर उठकर ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था में पहुंचना तो दूर की बात है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति के प्रपंच से बच सकना मनुष्य के लिये असंभव है। परन्तु प्रकृति के बन्धन से बचे बिना ब्रह्मप्राप्ति की ऊंची स्थिति तक पहुंच सकना भी संभव प्रतीत नहीं होता।

प्रकृति के बन्धन से छूटने का उपाय

हमारा वैदिक धर्म इस विरोध का सुन्दर समन्वय कर देता है। ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग पर चलने वाले पुरुष को प्रकृति के प्रपंच से ज़रा भी भयभीत

होने की आवश्यकता नहीं। तुम उत्तम-से-उत्तम घर बनाओ, बढ़िया-से-बढ़िया ढंग से कृषि करो, विभिन्न प्रकार के शिल्प और कलाओं का आविष्कार कर के भांति-भांति के व्यापार करो, सुन्दर-सुन्दर ग्राम और नगर बसाओ, उत्तम-से-उत्तम सुव्यवस्थित राज्यों की स्थापना करो। इन बातों से तुम्हारे ब्रह्म-प्राप्ति के रास्ते में रुकावट नहीं पड़ेगी। अगर तुमने सिर्फ एक बात का ध्यान रखा। और वह एक बात है संसार का कोई भी काम करते हुए प्रभु की सत्ता को अपनी मानसिक दृष्टि से ओझल न होने देना। मेरा प्रभु न्यायशील है, परोपकारी है, दयालु है, पक्षपात रहित है, ऋतम्भर है, सत्यशील है, किसी को अपने लिये कष्ट नहीं देता (अहिंसक) है, परम बली है, तपोमय है, ज्ञान का भंडार है, महान् है, सब प्रकार के विकारों से रहित है, उस में क्रोध नहीं, काम नहीं, लोभ नहीं, मोह नहीं, भय नहीं, शोक नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं। वह प्रभु इन गुणों वाला हो कर ही इस विश्व-ब्रह्माण्ड को चला रहा है। मैं भी अपने प्रभु के इन गुणों वाला बन कर ही अपने संसार के कामों को सम्पन्न करूंगा। इस दृष्टि को लेकर मनुष्य प्राकृतिक जगत् से सम्बन्ध रखने वाली ऊंची-से-ऊंची उन्नतियें कर सकता है। उन से उस के परम लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग में बाधा नहीं आती। प्रत्युत इस दृष्टि वाले व्यक्ति के लिये ये प्राकृतिक उन्नतियें, "**उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः, दृशे विश्वाय सूर्यम्**[1]" (यजुः ३३. ३१) वेद के इन अपने ही शब्दों में प्रभु की शक्ति के चमत्कारों का रहस्य खोलने वाली बन कर, ब्रह्मसाक्षात्कार में परम्परया सहायक होती हैं। ऐसी दृष्टि वाला पुरुष संसार में पग-पग पर उस प्रभु की ओर इशारा करने वाली आश्चर्यमय रचनाओं का दर्शन करता है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्माजगतस्तस्थुषश्च स्वाहा[2]॥

यजुः० १३. ४६।

और इस दृष्टि से संसार में चलने का अन्तिम परिणाम यह होता है कि शनैः-शनैः हमारे अन्दर से वे सारी तुच्छ भावनायें, जिन के कारण हमारे

१. मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—"संसार के सब पदार्थ झण्डियें बन कर, वेदों के उत्पादक, ज्ञान और धन देने वाले, सब के प्रेरक और सूर्य के समान प्रकाशमय उसी परमात्मदेव के दर्शन कराते हैं।"

२. मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—"मित्र, वरुण और अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियों की अद्भुत सेना प्रकट हो कर उसी परमात्मदेव के दर्शन करा रही है, सब का प्रेरक और सूर्य के समान तेजस्वी वह परमात्मदेव द्युलोक और पृथिवीलोक में व्याप्त है, वह जङ्गम और स्थावर सब में रमा हुआ है।"

आत्म-दर्पण पर प्रभु के प्रकाश का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ने पाता था और हम खाली प्रकृति के ही भार से दबे रहते थे, दूर हो जाते हैं। प्रभु का प्रकाश हमें अधिकाधिक प्राप्त होने लगता है। हमारे आत्मा की उज्ज्वलता प्रतिदिन बढ़ती जाती है। और हमें यह भान होने लगता है कि यह प्रकृति जिसे हम इतना अधिक महत्त्व दे रहे थे, हमारे आत्मा और उस से भी बढ़ कर परमात्मा की तुलना में कुछ भी उज्ज्वलता, कुछ भी रमणीयता और कुछ भी आकर्षण नहीं रखती, और इस में जो कुछ रमणीयता है भी वह इस के साथ आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध रहने से ही है। इस भान का परिणाम यह होता है कि मनुष्य समझने लगता है कि प्राकृतिक संसार मेरा साध्य नहीं केवल साधन है—अन्तिम ठिकाना नहीं केवल बीच का पड़ाव है। वह वेद के शब्दों में समझने लगता है, "**उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्, देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्** " (यजु० ३५. १४) अर्थात् मेरा ध्येय तो इन पड़ावों में से होते हुए सब के अभिसरणीय उत्तम ज्योति उस प्रभु के पास पहुंचना है। अन्त में एक दिन वह भी आ जाता है जब उसे प्रकृति के ऊपर पूर्ण प्रभुता प्राप्त हो जाती है और वह उस के बन्धन को जब चाहे तोड़ सकता है। इस अवस्था में पहुंच कर उस के लिए अपने प्रभु से एक क्षण के लिये भी अलग रहना असह्य हो जाता है। इस लिये वह प्रकृति के आवरण को परे फेंक कर दिव्य आनन्द के उस महासमुद्र में डुबकी लगाने के लिये कूद पड़ता है।

ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ लिखा गया है उस की सत्यता में जिस ने वेद का साधारण-सा भी स्वाध्याय किया है उसे सन्देह नहीं रह सकता।

सांसारिक उन्नति और ब्रह्म-प्राप्ति का विरोध नहीं है

ब्रह्म-प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य है यह वेद के आधार पर ऊपर दिखाया जा चुका है। इस के साथ ही वेद स्पष्ट तौर पर यह भी आदेश करता है कि सांसारिक दृष्टि से भी हमारा जीवन बहुत उन्नत होना चाहिये। हम विद्यावान् हों, हमारे शरीर बलिष्ठ, सुन्दर और नीरोग हों, हमारे घर बहुत बढ़िया हों, धन-धान्य और पशुओं की हमारे यहां कमी न हो, हमारी खेती, हमारे कला-कौशल, हमारा व्यापार, हमारा राज्य और हमारी सेनायें

---

१. मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—"हम अन्धकार से परे हो कर, आनन्द (स्वः) की प्राप्ति के लिये उत्कृष्ट ज्योति (प्रकृति) को और उत्कृष्टतर ज्योति (आत्मा) को देखते हुये अर्थात् उन के स्वरूप को समझते हुये उत्कृष्टतम ज्योति सब के प्रेरक और सूर्य के समान प्रकाशमान परमात्मदेव को प्राप्त करें जो कि देवों में भी देव है।"

खूब सुव्यवस्थित हों, हमारे शिक्षणालय बहुत उन्नत हों—इत्यादि अनेक व्यावहारिक बातों का सुस्पष्ट वर्णन वेदों में मिलता है। इस के लिये वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त, ओषधि-सूक्त, शाला-सूक्त, गोपालन-सूक्त, कृषि-सूक्त, वणिक्-सूक्त, ऋतु-सूक्त, राज्य और सेनाओं सम्बन्धी सूक्त तथा और भी अनेक सूक्त देखे जा सकते हैं। परन्तु सांसारिक उन्नति का आदेश करने वाले इन सूक्तों की रचना में एक अद्‌भुत विचित्रता है। वह यह कि कहीं तो ऐसा है कि उस विषय के सूक्त की रचना ऐसी है कि सूक्त अपने प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करने के साथ ही साथ ईश्वर-तत्त्व की उपस्थिति भी पाठक के मन में उसी समय कराता चलता है। और कहीं ऐसा है कि उस सूक्त के आगे-पीछे आने वाले सूक्त के सूक्त ही ऐसे हैं जो कि स्पष्टतया ईश्वर-तत्त्व का प्रतिपादन कर रहे होते हैं और इस प्रकार पाठक के मन में व्यावहारिक विषय की उपस्थिति होने के तत्काल ही पश्चात् ईश्वर की उपस्थिति हो जाती है। यहां यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि वेद के मानने वालों में एक सर्वसम्मत-सिद्धान्त है कि समग्र वेद का एक अर्थ आध्यात्मिक भी होता है। वेद की इस रचना और क्रम का यही अभिप्राय है कि मनुष्य सांसारिक विषयों में यथेष्ट उन्नति करे सही, पर संसार के काम करते समय उसे ईश्वर की सत्ता और उस के गुणों का स्मरण भी अवश्य रखना चाहिये। संसार में विचरते हुए भी उस की दृष्टि आध्यात्मिक रहनी चाहिये।

कोरे अनुमान और कल्पना से ही हम इस निर्णय पर पहुंचते हों ऐसी बात नहीं है। वैदिक सूक्तों के रचना क्रम से ऊपर जिस बात का अनुमान किया गया है वही बात ऋग्वेद के १०. ७१. ९ मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में कही गई है। मन्त्र इस प्रकार है—

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः[1]॥

इस मन्त्र में असंदिग्ध शब्दों में कहा गया है कि "जो वेद-ज्ञान से न इस लोक को सिद्ध करते हैं और न परलोक को, न ब्रह्मज्ञानी बनते हैं और न कर्मशील, वे वेदवाणी को व्यर्थ ही पढ़ते हैं।" दूसरे शब्दों में मन्त्र का यह अभिप्राय है कि वेद पढ़ने का प्रयोजन कर्मशील और ब्रह्मज्ञानी बनना है, इस लोक और परलोक की उन्नति करना है।

---

१. इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारे ग्रन्थ "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" के पृष्ठ २-३ पर देखिये। और जिस सूक्त का यह मन्त्र है उस सारे सूक्त की विस्तृत व्याख्या वहीं पृष्ठ ४-१३ पर देखिये।

धर्म का लक्षण : अभ्युदय और निःश्रेयस का समन्वय

वैशेषिक दर्शनकार ने वेद के इसी गम्भीर आशय को ध्यान में रख कर धर्म का अपने समय की लोकभाषा में यह लक्षण किया है कि "धर्म उस आचरण का नाम है जिस से मनुष्य की इस लोक में भी सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति होती चले और वह मोक्ष का अधिकारी भी होता जाये[1]।" आर्यसमाज धर्म का यही लक्षण स्वीकार करता है। हम लोग किन्हीं विश्वासों को धर्म नहीं कहते। हमारे यहां धर्म जीवन बिताने का एक ढंग है जिस में चलते हुए हम इस संसार की भी सब प्रकार की उन्नति कर सकते हैं और अन्त में अपने परम लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य भी अपने को बना लेते हैं। दूसरे शब्दों में कहना हो तो हम कह सकते हैं कि आर्यसमाज के लिये धर्म एक विश्वासों का समुदाय (Bundle of beliefs) नहीं है, प्रत्युत वह समग्र जीवन के सम्बन्ध में एक दृष्टि ((An outlook on entire life) है जिस का अनुसरण करते हुए हम जीवन के प्रत्येक पहलू में खूब उन्नति करते हैं और यह उन्नति इस ढंग से की जाती है कि जीवन का परम लक्ष्य "ब्रह्म" प्रतिक्षण हमारे मानसिक-चक्षु के आगे रहता है। अगर किन्हीं लोगों के कुछ विश्वास ऐसे हैं जो हमारी इस संसार की सर्वाङ्ग-पूर्ण उन्नति नहीं होने देते बल्कि उलटा उस में बाधा डालते हैं तो आर्यसमाज उन विश्वासों को कभी धर्म स्वीकार नहीं करेगा। हम गीता के शब्दों में इस बात के मानने वाले हैं कि "जो धर्मशील (यज्ञशील) नहीं है उस का तो यही लोक नहीं बनता अगले की तो आशा ही क्या की जा सकती है[2]।" धर्म के लिये आवश्यक है कि वह पहले इस लोक की उन्नति कराये, फिर देखेंगे कि वह अगले लोक के लिये सहायक होता है या नहीं। जो सिद्धान्त हमारे इस लोक की उन्नति कराना तो दूर रहा उलटा उस में रुकावट डालते हैं उन्हें कभी "धर्म" नहीं माना जा सकता। यह आर्यसमाज का स्थिर विश्वास है। दूसरी ओर अगर कुछ लोग ऐसे हैं जो जिस किसी तरह भी दुनियाबी सुख-समृद्धि और तरक्की प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य समझते हैं, जिन्हें आत्मा-परमात्मा से कुछ सरोकार नहीं, ऐसे लोगों के विश्वास भी धर्म नहीं माने जा सकते। किसी सिद्धान्त के लिये "धर्म" कहलाने के लिये आवश्यक है कि कि वह अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि की, इस लोक और परलोक दोनों की उन्नति की, कसौटी पर समानरूप से सही उतरता हो। कम-से-कम उसे इन में से किसी

---

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः। वैशेषिक दर्शन १. १. २।

२. नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम। गीता ४. ३१।

एक का विरोध तो हरगिज़ नहीं करना चाहिये ।

आर्यसमाज का धर्म अन्य धर्मावलम्बियों को किस दृष्टि से देखता है इस के सम्बन्ध में कुछ कहने से पहले हम "धर्म" किसे समझते हैं इस का इतना विवेचन कर लेना आवश्यक था । आगे जो कुछ लिखा जायेगा उसे समझने में इस विवेचन से बहुत सहायता मिलेगी ।

२

वैदिकधर्मियों द्वारा अन्य धर्मों की समालोचना

अब हम प्रस्तुत विषय पर आते हैं और देखना चाहते हैं कि वैदिकधर्म को मानने वाला आर्यसमाज अन्य धर्मावलम्बियों को किस दृष्टि से देखता है ।

सब से पहली बात यह ध्यान में रखने की है कि आर्यसमाज अन्य धर्मावलम्बियों के धर्मों की समालोचना करता है । यह समालोचना कर सकना वह अपना अधिकार समझता है । किन्तु इस बात को ले कर आर्यसमाज लोगों में बहुत बदनाम हुआ है । लोग उसे असहिष्णु और संकुचित मनोवृत्ति वाला समझते हैं । उन्हें उस का यह काम कड़ुवा लगता है । आर्यसमाज की इस बात से महात्मा गांधी जैसे निरीह और निर्लेप व्यक्ति भी उस से अप्रसन्न रहे हैं । आर्यसमाज, अन्य धर्मावलम्बियों के धर्मों की आलोचना का कड़ुवा काम क्यों करता है इसे स्पष्ट करने के लिय नीचे कुछ विस्तार से विचार किया जाता है ।

धर्म के स्वरूप को समझने के लिये बुद्धि का प्रयोग आवश्यक है

हम अभी ऊपर देख चुके हैं कि वैदिक धर्मियों के लिये "धर्म" खाली किसी विश्वास (Faith) का नाम नहीं है । धर्म होने के लिये आवश्यक है कि कोई विश्वास, अभ्युदय और निःश्रेयस की, इस लोक और परलोक दोनों की उन्नति की, कसौटी पर कसा जाने पर भी प्रामाणिक ठहरता हो । धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में यह मन्तव्य स्थिर हो जाने पर इसका एक आवश्यक परिणाम यह निकलता है कि हमें कोई धर्म वास्तव में धर्म है कि नहीं इसका निर्णय करने के लिये उपर्युक्त कसौटी की सहायता से समय-समय पर अपनी बुद्धि का प्रयोग करते रहना चाहिये । मनुष्य बुद्धिमान् हो और अपने हिताहित के परिज्ञानार्थ अपनी बुद्धि का प्रयोग करता रहे, इस बात पर वेद में बहुत बल दिया गया है । वेद के "मेधा" और "सरस्वती" सम्बन्धी सूक्तों में—जहां बुद्धि और ज्ञान की ही प्रार्थना परमेश्वर से की गई है—यह बात कोई भी देख सकता है । गायत्री-मन्त्र में, जिसका वैदिक धर्मियों में इतना महत्त्व है, बुद्धि की ही प्रार्थना की गयी है । हमें बाज़ार से दो आने की चीज़ खरीदनी होती है, इस

के लिए हम बाज़ार-भर का चक्कर काट डालते हैं, पचासों दुकानों पर जाकर अपनी अभीष्ट चीज़ की जांच करते हैं, अन्त में जिस दुकान की चीज़ ठोक-बजा कर देखने पर खरी मालूम होती है वहां से उसे हम लेते हैं। अपनी छोटी-छोटी चीजें खरीदते समय हमारे लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग आवश्यक समझा जाता है। जो व्यक्ति इन अवसरों पर अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करता उसे हम बेवकूफ और मूर्ख आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं। जब छोटी-छोटी बातों में खरी और खोटी का भेद करने के लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग हमारे लिये आवश्यक है तो धर्म जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु की परीक्षा के लिये, जिस का हमारे जीवन के प्रत्येक हिस्से से, इस लोक और परलोक दोनों से, घनिष्ठ सम्बन्ध है, अपनी बुद्धि का प्रयोग करना हमारे लिये कितना ज़रूरी है यह आसानी से समझ में आ सकता है।

वैदिक धर्म का सत्य पर आग्रह

अनेक वार, यदि हम सदसत्—खरे-खोटे—का विवेक करने के लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग न करें तो, ऐसा होता है कि कोई चीज़ या विचार उनके आपात-रमणीय बाह्यस्वरूप की वजह से सही और सत्य समझ लिये जाते हैं। पर आगे चलकर अनुभव हमें बताता है कि यह सत्य नहीं घोर असत्य था, हमने इसके बाहरी चमकीले रूप को ही सत्य समझ लिया था। ईशोपनिषद् का यह वाक्य कि "अनेक वार सत्य चमकीला सुवर्ण-सा दिखाई देने वाले ढकने से ढका होता है,[1]" ऐसी अवस्थाओं का ही वर्णन करता है। ऐसी अवस्थाओं का शिकार हमें न होना पड़े इस के लिये उपनिषद् के इसी मन्त्र के उतरार्द्ध की आज्ञा मानकर "हमें उस सुवर्ण-सा दिखाई देने वाले ढकने को उतार कर सत्य की तह तक पहुंचना चाहिये[2]।" वेद में सत्य की, सत्य क्या है यह जानकार उसके अनुसार आचरण करने की, महिमा बहुत अधिक गायी गयी है। अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त[3] (अथर्व० १२.१) में राष्ट्रों की उन्नति किन नियमों पर चलने से हो सकती है इस विषय का वर्णन है। उस सूक्त के पहले मन्त्र में सारे सूक्त की शिक्षाओं का निचोड़ भर दिया गया है। उस मन्त्र में राष्ट्रों की उन्नति के लिए परमावश्यक जिन बातों ७ पर बल दिया गया है उन में सब से

---

१. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। ईशोपनिषद् १५।

२. तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। ईशोपनिषद् १५।

३. अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त की विस्तृत व्याख्या हमारे ग्रन्थ "वेद का राष्ट्रिय गीत" में देखिये।